संपादन:
राजेश खिंदरी
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

सह संपादक:
माधव केलकर
दीपक वर्मा

चित्रांकन:
उमेश गौर

सहयोग:
जया विवेक
बृजेश सिंह
रामभरोस यादव
अमिताभ मुखर्जी

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-16, मार्च-अप्रैल 1997

संपादन एवं वितरण:
एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद, 461 001
फोन: 7574-53518

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 35 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: इंसान के फेफड़े में बिछा रक्त नलिकाओं का जाल। एक्स रे फोटोग्राफी से खींचे गए इस फोटो में जो सबसे पतली रक्त नलिकाएं दिख रही हैं वे और भी पतली नलिकाओं – करीब 5 से 10 माइक्रोन व्यास वाली – मे विभाजित होती है और एलविओली को चारों ओर से घेरे रहती हैं। फेफड़े में एलविओली ही वे जगह हैं जहां गैसों का आदान-प्रदान होता है। *(श्वसन तत्र के बारे में और जानकारी पृष्ठ 17 से 29 तक।)*

पिछला आवरण: पृथ्वी के चुंबकीय ध्रुव उलटते-पलटते रहते हैं, यानी आज जहां उत्तर ध्रुव है कभी वहां दक्षिणी ध्रुव रहा होगा और दक्षिणी ध्रुव की जगह उत्तरी ध्रुव। लेकिन ऐसी किसी पलटन के वक्त चुंबकीय ध्रुव अपनी नई स्थिति में तुरंत स्थिर नहीं हो जाते बल्कि शुरुआती वर्षों में काफी तेज़ी से इधर-उधर घूमते रहते हैं। डेढ़ करोड़ साल पहले हुई ऐसी ही एक पलटन के समय उत्तरी ध्रुव की बदलती स्थितियां। इस दौरान स्थिर होने से पहले करीब एक हज़ार साल उत्तरी ध्रुव यहां वहां घूमता रहा था। *(पृथ्वी के चुंबकत्व से जुड़े कुछ मसलों के बारे में और जानकारी पृष्ठ 35 पर।)*

इस अंक में विभिन्न किताबों से लिए गए चित्र (साभार): *बायोलोजिकल साइंसेज़* लेखक: विलियम टी. कीटन, जेम्स एल. गूल्ड, प्रकाशक: डब्लू. डब्लू. नॉर्टन एंड कंपनी, न्यूयॉर्क; *लाइफ, द साइंस ऑफ बायोलोजी* लेखक: विलियम के. पूर्व्स, गॉर्डन एच. ओरियन्स, प्रकाशक: सिन्योर एसोसिएट्स इन्क., मेसेचुसेट्स; *फन्कशनल कॉर्डेट एनेटोमी* लेखक: रोनाल्ड जी. वोल्फ, प्रकाशक: सी. बी. एस. पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली; *द लाइफ ऑफ वर्टेब्रेट्स* लेखक: जे. ज़ेड. यंग प्रकाशक: इंग्लिश लैंग्वेज बुक सोसायटी; *बॉयोलोजी फॉर लाइफ* लेखक: एम. बी. वी. रॉबर्ट्स, थॉमस नेल्सन एंड सन्स, यूनाइटेड किंगडम; *मेग्नीफिकेशंस* लेखक: डेविड स्कार्फ, प्रकाशक: स्कॉकेन बुक्स, न्यूयार्क; फिज़िकल साइंसेज़ लेखक: जेम्स टी. शिपमेन, जेरी एल. एडम्स, जेरी डी. विल्सन प्रकाशक डी. सी. हीथ एंड कंपनी, मेसेचुसेट्स।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित

सांस लेने के तरीके. 21

फेफड़ों में सोखी गई ऑक्सीजन शरीर की हर कोशिका तक पहुंचती है, ताकि भोज्य पदार्थों का ऑक्सीकरण हो सके; इस क्रिया में ऊर्जा पैदा होती है। यह ऊर्जा जीवन का आधार है। तो श्वसन का मतलब सिर्फ हवा का अंदर-बाहर होना ही नहीं है। जीवों में इसी ज़रूरत को पूरा करने के लिए तरह-तरह के श्वसन तंत्र विकसित हुए हैं। लेकिन श्वसन हो पाए इसके लिए कुछ शर्तें पूरी होना ज़रूरी है। श्वसन के बारे में गहन जानकारी देता लेख।
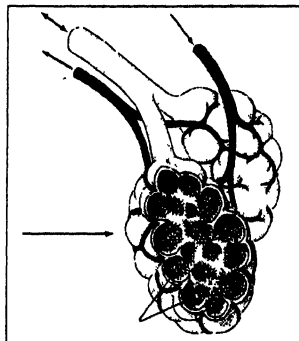
सवालीराम 61

इंद्रधनुष को लेकर कौतूहल हमेशा बना रहता है। बरसात का मौसम आया नहीं कि आसमान में इसका दिखाई पड़ना आम हो जाता है; इसका बनना प्रकाश के परावर्तन और अपवर्तन की ही घटना है, बस इसके बनने की परिस्थितियां कुछ अलग होती हैं।
सवालीराम ने बूझी है इस बार इंद्रधनुष बनने की गुत्थी।
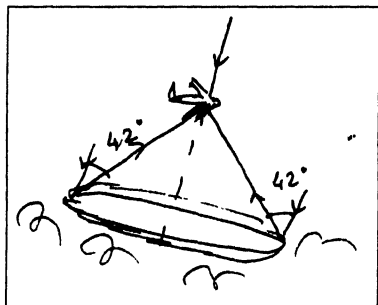
कौन ऐसी महिला है. . . ? 69

मौत को आमंत्रित करने की प्रथा भारत के किसी अन्य धार्मिक संप्रदाय में सशक्त रूप से विकसित नहीं हुई; लेकिन जैन धर्म में एक समय में ऐसी एक प्रथा यानी 'सल्लेखन' काफी प्रचलित थी। लोग एक खास पहाड़ी पर आते; व्रत लेते और अपने प्राण छोड़ देते। लेकिन 14-15 वीं सदी तक आते-आते यह लुप्तप्राय हो गई। जैन धर्म के इसी पहलू की गहराई से जांच पड़ताल — एक इतिहासकार की नज़र से।

इस अंक में

आपने लिखा

संदर्भ का पंद्रहवां अंक पढ़ा। इसमें वी. एस. डबीर द्वारा लिखित 'चुंबक मैं और वह शिक्षक' से एक नई जानकारी मिली। वृद्ध होते हुए भी उनकी जिज्ञासा काबिले तारीफ है।

मैं कक्षा आठ में विज्ञान पढ़ाता हूं और लेख में बताए शिक्षक की तरह बच्चों को चुंबकत्व नष्ट होने के यह किताबी कारण ही बताता हूं। बच्चों द्वारा कभी ऐसा प्रश्न नहीं किया गया कि चुंबक को कितने बार पीटने या कितना गर्म करने पर चुंबकत्व नष्ट हो जाता है? इसलिए मैंने भी कभी इस बात पर विचार नहीं किया। अब आगामी वर्षों में चुंबक के बारे में नई जानकारी बच्चों को मिल सकेगी। इसी अंक में अंतिम पृष्ठ पर 'चींटी का शिकार' भी अच्छा लगा।

अब संदर्भ को बेहतर बनाने के लिए सुझाव व शिकायत : इसमें विज्ञान मॉडलों को भी स्थान दीजिए साथ ही इसकी वितरण व्यवस्था अच्छी कीजिए। जनवरी-फरवरी 97 का अंक अप्रैल में मिला।

राजश्वर पारवाल
रामपुरा, मंदसौर, म. प्र.

मैं संदर्भ और चकमक दोनों की नियमित पाठिका हूं। ये दोनों पत्रिकाएं रोचक व ज्ञानवर्द्धक हैं। इनको पढ़कर मुझे विज्ञान की जटिलताओं को समझने में सुगमता हुई। मुझे बंकर में जीवन, संयोजकता, सूत्र और समीकरण, धरती भी गोल ही निकली ये लेख रोचक लगे। बातचीत की शैली में लिखे ये लेख विषय की भ्रांतियों को दूर करते हैं। बाल की खाल निकालने वाली वर्णन शैली विषय के प्रत्येक गंभीर पहलू को छूती है। पत्रिका में छपे चित्र अच्छे लगे।

नेहा महाजन,
अभिनव पब्लिक स्कूल, हरसूद, म. प्र.

चौदहवां अंक मुझे मेरे भैया, ने उपहार सदस्यता के अंतर्गत दिलवाया। पत्रिका मिलने के बाद मुझे खुशी भी हुई और अफसोस भी। अफसोस इस बात का कि मुझे इस पत्रिका के बारे में पहले कुछ भी नहीं मालूम था इसलिए मैं इसके पिछले कई अंक नहीं पढ़ पाई। और खुशी इस बात की कि इसमें पाठ्यक्रम से जुड़े कुछ लेख थे। यह पत्रिका हाई स्कूल, हायर सेकेंडरी तथा मिडिल स्कूल के बच्चों के लिए बहुत उपयोगी है।

इस अंक में 'तीन स्विचों से जला बल्ब' पढ़कर नई जानकारी मिली। 'बुन्सन बर्नर ....' एक रोचक लेख लगा; क्योंकि मुझे ज्ञात हुआ कि आज तक हम जो ऑक्सीजन की उपस्थिति वाला प्रयोग करते थे वह हवा में ऑक्सीजन की मात्रा को बिल्कुल नहीं दिखता।

'एक जीवनी की तलाश' यह लेख मुझे बिल्कुल समझ में नहीं आया। इस बात का मुझे अफसोस भी है और नाराज़गी भी। 'एक शाम जादूगर के साथ'

मुझे बहुत अच्छी लगी। इस कहानी को मैंने न जाने कितने लोगों को पढ़वाया है।

मंजूषा, जामुल सीमेंट वर्क्स,
जामुल, रायपुर, म प्र.

एक संस्था के मार्फत संदर्भ का बारहवां अंक पढ़ने को मिला। मैं इस पत्रिका का नियमित पाठक बनना चाहता हूं।

उजेन्द्र सिंह वर्मा, बढ़ई टोला,
खैरागढ़, राजनांदगांव,

पत्रिका का जनवरी-फरवरी 97 का अंक पढ़ा। 'आपने लिखा' स्तम्भ में सुश्री मंजुला का खत पढ़ा। इस संबंध में मैं बताना चाहता हूं कि 'हरियाणा विज्ञान मंच' बच्चों के बीच विज्ञान लोकप्रियकरण के लिए कार्यरत है। अधिक जानकारी के लिए आप *हरियाणा विज्ञान मंच सेक्टर 16- ए, फरीदाबाद* पर सम्पर्क साध सकती हैं।

रमेश श्योरान
सेक्टर 15, फरीदाबाद
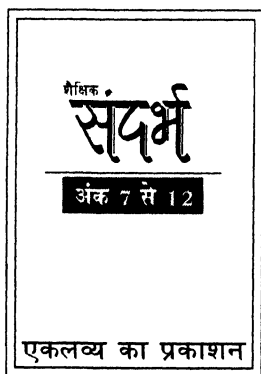
शीर्षक, विवाद और विज्ञान

'संदर्भ' के बारहवें अंक में जब मेरा लेख छपा था तब उसका शीर्षक 'गुम होती बोलियां' देखकर मुझे खासा झटका लगा था। मैंने सोचा था कि मैं इस शीर्षक से अपनी असहमति व इससे पैदा हो सकने वाली भ्रान्तियों के बारे में एक खत 'संदर्भ' को लिखूंगी, परन्तु अन्यान्य कारणों से यह काम टल गया। अब संदर्भ का 15 वां अंक हाथ में है। अंक में छपे दिलीप झा व डॉ. सबरवाल के पत्रों ने मुझे उक्त विषय पर कुछ कहने के लिए बाध्य कर दिया है।

मेरे इस लेख का शीर्षक संपादक मंडल ने तय किया था। लेख छपते ही मुझे समझ में आ गया था कि मैं अपनी बात संपादकों तक भी नहीं पहुंचा पाई जिन्होंने इस लेख को एकदम गलत शीर्षक दे दिया। इस लेख के माध्यम से मैंने, हमारे देश की भाषाई विविधता की तथ्यात्मक जानकारी, भाषा व बोली के बीच कहे जाने वाले अन्तरों की समीक्षा और संविधान द्वारा मान्यता प्राप्त भाषाओं व उनसे जुड़े प्रश्नों को पेश करने का एक छोटा-सा प्रयास किया था। यदि बोलियों को लेकर मेरी चिन्ता अभिव्यक्त हुई तो वह उनको मिलने वाले असमान दर्जे से जुड़ी थी, न कि गुम होने से। राजनैतिक संहार से जातियों, भाषाओं व संस्कृतियों को दबाने, मिटा देने, लोप कर देने का प्रयास सत्ताधारियों की साज़िश व मध्यम वर्ग की मूक सहमति के तहत होता है। एक तरफ विकास और दूसरी तरफ आदिवासियों की तहस-नहस होती संस्कृतियों, ज़िंदगियों की गाथाओं से भरा हुआ है हमारा इतिहास; जो इस साज़िश की गवाही देता है। भाषा और बोलियों में जानबूझकर भेद करना व उसे बनाए रखना भी इसी साज़िश का हिस्सा है।

इसी संदर्भ में मैंने उन पहलुओं को छूने का प्रयास भी किया था जिनके द्वारा आम लोगों की भाषा, आवाज़, अभिव्यक्ति, संस्कृति – पिछड़ी या गंवारू ठहरा दी जाती है। पर 'गुम होती बोलियां' शीर्षक ने जीवंत भाषाओं को संग्रहालय में रखी जाने वाली 'वस्तुओं' के समकक्ष रख दिया; जिनका इस्तेमाल न होने के कारण उन्हें बचाने व संग्रहालय में संजो कर रखने की

बात होती है। मेरी आशंका सही थी। इस शीर्षक ने भ्रान्तियां पैदा की। अंक-15 में छपे दोनों पत्रों से इसकी झलक मिलती है। इस शीर्षक से ऐसा आभास होता है जैसे मैं कुछ चन्द लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को 'बचाने' की गुहार कर रही हूं या जैसा कि डॉ. सबरवाल ने कहा कि 'घड़ियाली आंसू' बहा रही हूं।

परन्तु बात मात्र 'शीर्षक' की नहीं है। मुझे डॉ. आर. सबरवाल व दिलीप झा दोनों की टिप्पणियां बहुत रोचक लगीं। ज़ाहिर है कि इन दोनों के 'हिन्दी प्रेम' को मेरे लेख से काफी झटका लगा है। इसलिए लेख को 'हिन्दी विरोधी' करार कर देने के अलावा उसके किसी भी अन्य मुद्दे पर विचार करने की ज़रूरत इन्हें नहीं हुई। आमतौर पर तथ्यात्मक जानकारी लोगों को काफी झकझोरती है। पर आश्चर्य है कि भाषा के प्रश्न पर प्रस्तुत तथ्य भी यह करने में असफल हैं। ऐसी जानकारी तो 'ज्ञान-विज्ञान' का दर्जा तक नहीं पाती। यह मात्र 'हिन्दी प्रेम' नहीं है। यह अपनी भाषा, अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ मानने का दंभ है। तभी तो बिना कोई आधार दिए दिलीप झा जी पूर्वाग्रह पाले बैठे हैं कि हर अन्य भाषा बोलने वाला, हिन्दी तो जानता ही है या यह कि मध्य प्रदेश में तो खड़ी हिन्दी का ही प्रयोग होता है। अहिन्दी भाषी लोगों के प्रति इनकी असंवेनशीलता को क्या कहा जाए, वे स्वयं ही तय करें।

डॉ. सबरवाल कहते हैं कि 'आज की उपभोक्ता संस्कृति में वही भाषा अहम भूमिका निभाएगी जो रोज़ी-रोज़गार से जुड़ी होगी।' इस तरह की दलील दो अहम चीज़ों को जानबूझकर अनदेखा करती है। पहला रोज़ी-रोज़गार का संबंध – कितना आर्थिक नीतियों पर निर्भर है व कितना मात्र भाषा पर? क्या सबके अंग्रेज़ी सीख जाने से सबको रोज़ी-रोज़गार मिल जाएगा? दूसरा, हमारे समाज में उपभोक्ता संस्कृति के खिलाफ उठ रही आवाज़ व संघर्षों से अनभिज्ञता। क्या डॉ. सबरवाल उपभोक्ता संस्कृति की दुहाई देते हुए हमें यह भी बताएंगे कि स्त्री सुन्दरता के मापदण्ड वही होंगे जो उपभोक्ता संस्कृति तय करेगी?

मुझे आश्चर्य नहीं कि दिलीप झा जी ने मुझे 'हिन्दी विरोधी' होने का खिताब दिया। मैं तो अपने आपको 'हिन्दी प्रेमी' मानती हूं पर मैं बुन्देली, तमिल, बघेली, बंगाली, कोरकू.... प्रेमी भी हूं। मैं हिन्दी या अन्य किसी भी भाषा को लादने व विविधता को दमनात्मक तरीके से

खत्म करने की कोशिशों की विरोधी हूं। भाषाएं मेरे लिए दुनिया के लोगों को समझने, जानने, पहचानने का माध्यम हैं।

पत्रों के लेखकों का एक और पूर्वाग्रह है कि दिल्ली में सब लोग अंग्रेज़ी में ही शिक्षा-दीक्षा पाते हैं। गोया कि दिल्ली में सब धनवान हैं। आप दोनों की जानकारी के लिए (मेरा पूरा विश्वास है कि जो मैं अगले वाक्यों में कहने जा रही हूं वह आप अच्छी तरह जानते हैं पर 'दिल्ली वाली' कहकर लताड़ने का सुख पाने के लिए अपनी इस जानकारी को दबा देना ही आपके लिए सुविधाजनक है,) दिल्ली में ज़्यादातर आम लोग रहते हैं जो हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, सिंधी, गुजराती... भाषाएं बोलते व पढ़ते हैं। इसके अलावा लाखों प्रवासी मज़दूर हैं जो गन्दी बस्तियों में रहते हैं और विषम परिस्थितियों में जीते हुए भी अपनी भाषा, संस्कृति व अस्मिता बचाए रखने का प्रयास करते हैं। मेरी शिक्षा भी इस महानगर की नगर पालिका व सरकारी शालाओं में मुख्यतः हिन्दी भाषा में हुई। कॉलेज की पढ़ाई में मेरे ऊपर पूरी तरह से अंग्रेज़ी लदी। 'मैं' हमारी शिक्षा व्यवस्था का वह नमूना हूं जिसे कॉलेज तक की 'उच्च' पढ़ाई के बाद न हिन्दी आती थी न अंग्रेज़ी। मैंने भाषा का रस लेना, उसकी गहराई को समझना, उसकी समृद्धि को जानना व लिखना होशंगाबाद के शिक्षकों व मध्य प्रदेश के विभिन्न इलाकों के गांवों के लोगों से सीखा। गांवों के लोगों की उनकी अपनी भाषा पर पकड़, उस पर गर्व व उनकी प्रभावशाली अभिव्यक्ति ने मुझे हमेशा मेरी अपनी गड्ड-मड्ड शिक्षा व कमज़ोर अभिव्यक्ति पर सोचने को मजबूर किया है।

मुझे अंग्रेज़ी की किताबों से उद्धरित करने में कोई शर्म नहीं है। मैं तो विश्व की किसी भी भाषा में पढ़ना चाहूंगी, पढ़कर उद्धरित करना चाहूंगी – यदि मुझे उन जानकारियों, विचारों, विश्लेषणों से समाज की जटिलताओं और विरोधाभासों को समझने व उनसे जूझने में मदद मिले तो; या यदि मुझे पढ़कर मज़ा आए, अच्छा लगे तो। इस संदर्भ में दिलीप झा जी की टिप्पणी मुझे आश्चर्यचकित करती है। 'संदर्भ' में छपे ढेरों चित्र, कई लेख व कहानियां अंग्रेज़ी किताबों से ली जाती हैं। पर इस तथ्य पर उन्हें टिप्पणी करने की ज़रूरत महसूस नहीं हुई। मात्र भाषा के मुद्दे पर लिखे लेख में संदर्भ पुस्तिकाओं का अंग्रेज़ी में होना खला। यह विरोधाभासी व्यवहार कुछ समझ में

नहीं आया। क्या यह इसलिए है क्योंकि वे भाषाओं की जानकारियों को 'भाषाई विवाद' मानते हैं और बाकी सबको 'ज्ञान-विज्ञान'?

अब मैं अन्तिम बिन्दु पर आती हूं। दिलीप झा जी के अनुसार 'संदर्भ का काम ज्ञान-विज्ञान' की जानकारी देना है न कि 'भाषाई विवाद' को जन्म देना। पर भाषाई विविधता व विवाद तो एक सच्चाई है और 'ज्ञान-विज्ञान' की परिभाषा को संकीर्ण करके इसे दबाया नहीं जा सकता।

असल में, मेरा मत है कि इस कथन के द्वारा दिलीप झा जी ने 'संदर्भ' पर एक गहरी व सटीक टिप्पणी कर दी है। क्या शिक्षा या विज्ञान के संदर्भ में विवादों की बात करना, उलझनों की चर्चा करना, सामाजिक जटिलताओं का ज़िक्र करना, विरोधाभासों को सामने रखना 'ज्ञान' नहीं है?

'ज्ञान' क्या है और क्या नहीं, यह कैसे तय होता है? कौन तय करता है? इस संदर्भ में 'संदर्भ' (पत्रिका) से क्या संदेश मिलता है? विज्ञान, इतिहास, सामाजिक अध्ययन व शिक्षा जैसे विषय के विवाद, उलझनें, जटिलताएं या मुख्यधारा से अलग वैकल्पिक सोच-विचार यदा कदा अपनी झलक 'संदर्भ' में दिखाता है, पर बहुत कम। क्या ये व्यापक परिप्रेक्ष्य 'संदर्भ' का हिस्सा बनेगा कभी?

साधना सक्सना
दिल्ली

कुछ जवाब, कुछ सवाल

भाषा, बोली और बच्चों का सीखना

तेरहवें अंक में छपे मेरे लेख पर कई पाठकों ने अपनी प्रतिक्रिया भेजी है। मैं उन सबका आभारी हूं। भाषा को लेकर एक संवाद शुरू हो यह आवश्यक है। यह भी आवश्यक है कि वह संवाद वैज्ञानिक हो, तर्कसंगत हो, सामाजिक व ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हो। इस संवाद को विश्वविद्यालय की चार दीवारी से भी बाहर निकालना है। भाषा सर्वव्यापी है, हमारे ज्ञान, सभ्यता व संस्कृति का स्रोत व माध्यम है, हमारी पहचान है, इसका एक विशेष मानकीकृत

रूप सब से जुड़ा रहता है। जन सामान्य में भाषा के बारे में एक वैज्ञानिक समझ बने बिना सामाजिक बदलाव की संभावना काफी धुंधली पड़ जाती है।

अपने लेख में कुछ आधारभूत बातों के बारे में बातचीत का सिलसिला शुरू करना चाहता था मैं।

(क) भाषा व बोली में संरचना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। अन्तर करने के कारण सामाजिक व राजनैतिक होते हैं।

(ख) बोलियों में से भाषा चुनने का काम सत्ताधारी लोग करते हैं और अपने स्वार्थ हेतु उस भाषा के मानकीकरण एवं विस्तार के लिए तरह-तरह के प्रयास करते हैं।

(ग) हर व्यक्ति भाषा व व्याकरण सीखने की पूर्ण क्षमता रखता है। भाषा सीखने में व्याकरण पढ़ाने का कोई स्थान नहीं है। हर बच्चा अपनी मातृभाषा का व्याकरण स्वयं पकड़ लेता है। यदि उसके परिवेश में अनेक भाषाएं हों तो वह अनेक व्याकरणों को स्वयं आत्मसात करने में समर्थ है।

(घ) एक तरफ तो आप अपनी भाषा में गलती नहीं कर सकते; अपनी मातृभाषा (ओं) में गलत वाक्य बोलने का प्रयास करें; आप उसे तुरन्त सुधार लेंगे; दूसरी ओर बिना त्रुटियों के, एक चरणबद्ध रास्ते से गुज़रे बिना भाषा सीखना संभव नहीं।

शायद एक छोटे-से लेख में इतनी तरह की बातें करना मेरे लिए उचित नहीं था। इससे कुछ बाधा हुई है संप्रेषण में। यह भी संभव है कि कुछ पाठकों ने वही पढ़ा व समझा जो वे पढ़ना व समझना चाहते थे। कुछ स्पष्टीकरण। मैं बिलकुल हिन्दी का विरोधी नहीं हूं। मेरी तीन मातृभाषाओं में से एक हिन्दी है। मैं यह भी मानता हूं कि अंग्रेज़ी के कारण कई हिन्दी-भाषियों को काफी नुकसान होता है। संप्रेषण के ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिनसे अंग्रेज़ी को बिलकुल हटा देना चाहिए एवं स्थानीय भाषाओं का प्रयोग होना चाहिए। लेकिन इन सबसे यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दी भाषा, तमिल, मलयालम, अवधि, ब्रज आदि से किसी भी तरह से अधिक वैज्ञानिक है। आप भाषा कहें, उपभाषा कहें, बोली कहें — जिस माध्यम से भी आप बातचीत करते हैं, वह नियमबद्ध है। 'दिलीप झा' जी की बात, कि भाषा-विज्ञान या व्याकरण को मापदंड बनाकर भाषा व बोली

में विभाजन किया ही नहीं गया बिलकुल सही है। संख्या को मापदंड मानना एक सामाजिक सवाल है, भाषा की संरचना-गत नहीं।

आंकड़ों की राजनीति के बारे में मैं अवश्य एक लेख संदर्भ में लिखूंगा। लेकिन यह तो 'दिलीप झा' भी मानते हैं कि असंख्य लोग जिन्हें हिन्दी भाषी कहा जाता है, उनके लिए हिन्दी पहली मातृभाषा नहीं है। झा जी को लगता है कि अंग्रेज़ी को अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनाने के लिए कोई योजनाबद्ध प्रयास नहीं किया जा रहा है। अगर मैं आपसे कहूं कि बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपने टी.वी., फ्रिज, कपड़े धोने की मशीन आदि बेचने के लिए कोई प्रयास नहीं कर रहीं तो क्या आप मेरी बात मानेंगे। भाषा बेचने के तरीके काफी गूढ़ (Subtle) होते हैं। विश्व भर में अलग-अलग तरीकों से अंग्रेज़ी-उद्योग चल रहा है। (उपनिवेशवाद के इतिहास के बारे में भी सोच कर देखिए।) आजकल एक ओर अंग्रेज़ी हटाने के प्रयास जारी हैं तो दूसरी तरफ विदेशी चीज़ों के साथ-साथ हम अंग्रेज़ी भी खरीद रहे हैं। हाल ही में ब्रिटिश काउंसिल ने व्यावसायिक अंग्रेज़ी में एक कार्यक्रम शुरू किया है। आखिर क्यों?

भारत एक बहुभाषी देश है – व्यक्ति विशेष के स्तर पर एवं सामाजिक इकाई के स्तर पर। हमारी संस्कृति, इतिहास एवं बौद्धिक विकास से यह बहुभाषिता अत्यधिक गहराई से जुड़ी है। धरोहर है हमारी यह। हम खो नहीं सकते इसे न अंग्रेज़ी के लिए, न हिन्दी के लिए। एक राज्य – एक धर्म – एक लोग – एक भाषा (यथा इंगलैंड, क्रिश्चियन – अंग्रेज़ – अंग्रेज़ी आदि) जैसे समीकरण भारत में सार्थक नहीं और अब, जैसे-जैसे संसार सिकुड़ता जा रहा है, कहीं भी नहीं। संविधान बनाते समय जो गहन व लम्बे वाद-विवाद हुए, उनमें ये प्रश्न मुख्य थे: भारत की राष्ट्र-भाषा क्या हो? क्या भाषा के आधार पर भारत में राज्य बनाए जाएं? इन प्रश्नों के उत्तर और उनके लिए किया गया संघर्ष एक लम्बी कहानी है। उस वक्त देश के सबसे अधिक प्रभावशाली नेता थे प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू। भाषा के प्रति पूर्णतया संवेदनशील, देश की बहुभाषिता से परिचित। भारत राष्ट्र की एक नहीं कई मुख्य भाषाएं हैं जो आठवीं अनुसूची (Schedule) में हैं। हिन्दी एक मुख्य भाषा है जो 'राजभाषा' मानी गई – राष्ट्रभाषा नहीं। हिन्दी की गरिमा बहुभाषिता का हिस्सा होने में है, न कि अन्य भाषाओं और बोलियों पर छा जाने में। और भाषा के आधार पर राज्य

बनाने में नेहरू सरकार ने जितनी देर हो सकी की। आंध्र प्रदेश पांच साल बाद बना तो हरियाणा पंजाब आदि 15 साल बाद। आखिर कौन फैसला करे कि कहां भोजपुरी खत्म होती है और हिन्दी शुरू, कहां तमिल खत्म होती है और मलयालम शुरू। और भाषा के आधार पर राज्य मांगने की क्या राजनीति होती है इससे आप परिचित हैं ही। भाषा तो केवल एक बहाना भर बनकर रह जाती है, एक अलग राज्य की मांग के लिए।

यदि हम भारत के दक्षिण, पूर्व तथा पश्चिम की ओर ध्यान से देखें तो हमें मालूम होगा कि हिन्दी व अंग्रेज़ी का प्रयोग वास्तव में बहुत कम होता है। बहुत ही कम परिवार ऐसे होंगे जिनके घर की भाषा हिन्दी या अंग्रेज़ी होगी। क्या हर समाज को अधिकार नहीं कि उसके बच्चों की प्राथमिक शिक्षा, बच्चे की अपनी भाषा (ओं) में हो? यह विचारणीय बात है कि किन कारणों की वजह से आमतौर पर यह मान लिया जाता है कि व्यावहारिक तौर पर दो ही भाषाएं व्यापक रूप से प्रयुक्त हो रही हैं – हिन्दी और अंग्रेज़ी। एक मुख्य कारण तो साफ है – मानकीकृत हिन्दी व अंग्रेज़ी को ही वह सामाजिक व राजनैतिक स्थान दिया गया है जिससे वह सत्ता पाने व बनाए रखने में सार्थक हैं। ब्रज व मैथिली बोलने वाला बच्चा हिन्दी जानता है, यह शायद सही है। सवाल यह है कि हमारी शिक्षा-प्रणाली व सामाजिक संरचना में ब्रज व मैथिली का क्या स्थान है? क्यों है?

सबरवाल जी का यह कहना कि 'आज की उपभोक्ता-संस्कृति में वही भाषा अहम् भूमिका निभाएगी, जो रोज़ी-रोज़गार से जुड़ी होगी' सही है। लेकिन क्या उपभोक्ता-संस्कृति हमें स्वीकार्य है? सबरवाल जी, इंसान तो खाना तब भी खाता था जब भाषा नहीं थी। एक बार फिर दोहरा दूं – भाषा मेरी पहचान है; मेरी संस्कृति का हिस्सा है; संसार को समझने का माध्यम है। केवल रोज़ी-रोटी नहीं है मेरे लिए मेरी भाषा। मेरी भाषा को कोई अन्य भाषा निगलती है तो वह मेरे अस्तित्व को निगलती है। 'अंगामी' बोलने वाले 'नागा' से बात करें। Ngugi wa Thiongo (अमेरिका नहीं अफ्रीका के हैं) की किताब 'डिकॉलोनाइज़िंग द माइंड'* पढ़ें। तेजस्विनी निरंजना की किताब* पढ़ें। आशिश नंदी की किताब पढ़ें। दोनों हिन्दुस्तानी हैं। कृष्ण कुमार* को पढ़ें।

'कविता शर्मा' ने बच्चों के भाषा सीखने के बारे में कुछ सवाल उठाए हैं। कविता जी इसमें कोई परेशानी की बात नहीं कि वयस्क, बच्चों से बात करते समय अपनी भाषा बदल लेते हैं। वास्तव में यह बदलाव बिल्कुल, नियमबद्ध तरीके से होते हैं – यथा 'र' के स्थान पर 'ल' आदि। इसी प्रकार की नियमबद्ध संरचनात्मक तब्दीलियां हम लोग अपनी भाषा में विदेशी लोगों से बात करते समय करते हैं। यह संरचना के सरलीकरण का एक प्रयास है।

हां, हैरानी की बात यह अवश्य है कि इस प्रकार की तोड़ी-मरोड़ी, टूटी-फूटी भाषा सुनने के बाद भी बच्चा भाषां के सही नियम पकड़ लेता है और एक चरण-विशेष के बाद अपने परिवेश की भाषा में कोई त्रुटि नहीं करता। शीघ्र ही स्वयं 'मेला' व 'मेरा' में अन्तर पकड़ लेता है। यदि उसका परिवेश 'शाम' व 'साम' जैसे शब्दों को अलग-अलग तरह से नहीं बोलता तो वह कहां से 'श' और 'स' में अन्तर सीख जाएगा। मानकीकृत हिन्दी के प्रचार हेतु यदि आप उसे 'श' और 'स' में अन्तर सिखाना चाहते हैं, तो कक्षा में, परिवेश में वैसा ही स्वाभाविक वातावरण पैदा करना होगा जिससे कि बच्चा भाषा की शेष संरचना को स्वयं आत्मसात कर लेता है।

रमाकान्त अग्निहोत्री
दिल्ली

* Nandy, A. 1983. The Intimate Enemy: Loss and Recovery of Self Under Colonialism. Delhi: OUP

* Ngugi wa Thiongo. 1986. Decolonizing the Mind: The Politics of Language in African Literature. London: James Curry.

* Niranjana. T. 1992. Siting Translation: History Past - Structuralism and the Colonial Context. Berkley: University of California Press.

* Kumar, K. 1991. Political Agenda of Education: A study of Colonialist and Nationalist Ideas. Delhi: Sage Publication.

सूक्ष्मदर्शी से
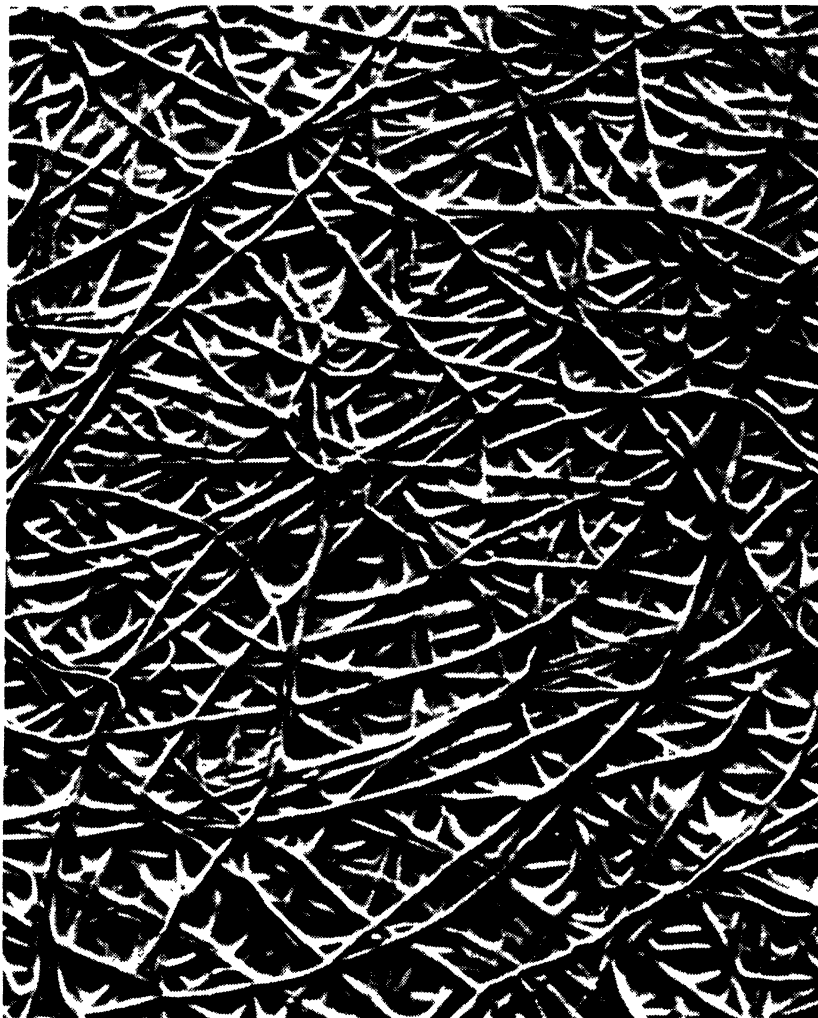
कागज़ का एक टुकड़ा – 96 गुना बड़ा करके देखने पर। यह चित्र इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से खींचा गया है।

प्रजनन शिक्षा के मायने

जे. बी. एस. हाल्डेन

"...सच तो यह है कि आप लोगों को अभ्यस्त कर सकते हैं कि वे भाप के इंजन, भाषाई व्याकरण या नदियों के अध्ययन की तरह अपने शरीर को भी ऐसी चीज़ के रूप में देखने लगें जिसका अध्ययन किया जा सकता है।"

मेरे पास बहुत से पत्र आते रहे हैं जिनमें मानव प्रजनन के तथ्यों के बारे में बच्चों को कैसे पढ़ाया जाए, इस संबंध में मेरे विचार पूछे जाते हैं। पर इन सवालों का जवाब देते हुए मैं बहुत झिझकता हूं। हालांकि मैं विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को यौन संबंधी विभिन्न विषयों पर व्याख्यान देता हूं, लेकिन बच्चों को यह सब पढ़ाने का कोई सीधा अनुभव मेरे पास नहीं है।

मेरे ख्याल से इस समस्या के प्रति हमारे रवैये में कई खामियां हैं। और इनमें से कुछ इस कारण पैदा होती हैं, क्योंकि यौन संबंध उत्पीड़न के साधन के रूप में इस्तेमाल किए जाते हैं। यह उत्पीड़न स्पष्ट और ठोस भी हो सकता है जैसे कि वेश्यावृत्ति में; या फिर किसी हद तक छुपा हुआ – जैसे कि जब कोई पति अपनी पत्नी से यह अपेक्षा रखे कि वो घर में सोलह घंटे काम करे।

यह स्थिति तभी बदल सकती है जब महिलाओं और पुरुषों के बीच आर्थिक समानता हो और काम के लिए वेतन का सिद्धांत घरेलू कामों

पर भी लागू हो।

वैसे किस्सा यहीं खत्म नहीं होता। सभी तरह के समाजों में यौन संबंधों के साथ एक भावनात्मक पहलू भी जुड़ा रहता है। इस वजह से इन पर कोई तर्कसंगत चर्चा मुश्किल हो जाती है। आमतौर पर ये भावनात्मक पहलू धर्म से जुड़े होते हैं, और जहां नहीं भी होते वहां भी यौन संबंधों के बारे में भावुकता और अश्लीलता के बिना चर्चा हो पाना मुश्किल होता है।

हां, एक तरह के लोग हैं जो काफी हद तक ऐसा कर पाते हैं – वे हैं पेशेवर जीव-वैज्ञानिक। यौन क्रिया बहुत-सी जैविक प्रक्रियाओं में से एक है और हम में से अधिकांश लोगों के लिए सबसे अधिक दिलचस्प भी नहीं है। हमें घोंघे द्वारा शक्कर इकट्ठा करने का अनोखा ढंग भी उतना ही दिलचस्प लगता है जितना उसके द्वारा अपने सहचर के अंदर कणिश (Spike) डालना, आदमी की थायरॉइड ग्रंथि या जिगर (Liver) के स्त्रावों में भी हमें उतनी ही दिलचस्पी होती है जितनी वृषण (Testicles) के स्त्रावों में। चाहे चर्चा में शामिल होने वाले सभी पुरुष हों या स्त्रियां, हम सब बड़े आराम से इनमें से एक विषय से दूसरे में चले जाते हैं। शर्म, मज़ाक और भावुक वातावरण की अपेक्षा इस तरह के वातावरण में शायद यह खोज पाना ज़्यादा आसान होता है कि मानव यौन संबंधों में क्या सही है और क्या गलत।

बच्चों को जीवविज्ञान पढ़ाकर इस तरह के मानसिक ढांचे में ढाला जा सकता है। परन्तु वह वास्तविक जीवविज्ञान होना चाहिए – मनुष्य समेत जीवित पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों का अध्ययन। स्कूली जीवविज्ञान में केवल शरीर की रचना का वर्णन होता है और पौधों को लेकर कुछ प्रयोग। जबकि इसमें मानव शरीर क्रिया विज्ञान व शरीर की रचना को भी शामिल किया जाना चाहिए। स्वाभाविक है कि बच्चों से यह अपेक्षा तो नहीं हो सकती कि वे शव की चीर फाड़ करें या एक दूसरे के ऊपर ऐसे प्रयोग करें जिनमें सावधानी से रासायनिक विश्लेषण और विद्युतीय मापन करना पड़ता है।

लेकिन हर माध्यमिक स्कूल में एक कंकाल ज़रूर होना चाहिए और एक मॉडल भी जिसमें शरीर के सभी महत्वपूर्ण अंग दिखाए गए हों; इससे बहुत से प्रयोग काफी आसान हो जाते हैं। जैसे आंख की पुतली पर प्रकाश डालने पर उसके सिकुड़ने के प्रयोग से प्रतिवर्ती क्रिया (Reflex Action) दिखाई जा सकती है; इसी तरह कसरत करने से नाड़ी की गति का तेज़ होना दिखाया जाना भी एक अच्छा प्रयोग है। यह पता करना कि विभिन्न प्रकार के कामों से कौन-कौन-सी मांसपेशियां

संबंधित हैं और वे कितना-कितना बल लगाती हैं, दिलचस्प होता है – हालंकि यह मामला थोड़ा मुश्किल भी है। सच तो यह है कि आप लोगों को अभ्यस्त कर सकते हैं कि वे भाप के इंजन, भाषाई व्याकरण या नदियों के अध्ययन की तरह अपने शरीर को भी ऐसी चीज़ के रूप में देखने लगें जिसका अध्ययन किया जा सकता है।

इस तरह के पाठ्यक्रम में मानव प्रजनन का क्रिया विज्ञान और रचना शास्त्र स्वतः ही समा जाएगा। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसे अलग से नहीं पढ़ाया जाना चाहिए और न ही पाठ्यक्रम के अंत में एक खास चटपटे हिस्से के रूप में रखा जाना चाहिए। इसी तरह यौन रोगों का विवरण अन्य बीमारियों के विवरण के साथ ही दिया जाना चाहिए। किसी-न-किसी बिन्दु पर संभोग क्रिया का विवरण देना भी ज़रूरी है, जो भोजन ग्रहण करने की प्रक्रिया की तरह एक स्वैच्छिक क्रिया के रूप में शुरू होती है और ठीक भोजन निगलने जैसी एक बिल्कुल अनैच्छिक सहज क्रिया के रूप में खत्म होती है। उसके बाद यह बताया जा सकता है कि इस सहज क्रिया को प्रतिबंधित (Condition) किया जा सकता है और यौन सहज क्रिया (Sexual Reflexes) को प्रतिबंधित करना यौन नैतिकता का हिस्सा है।

सबसे बड़ी मुश्किल तो यह है कि बच्चों को ये सब चीज़ें शादी और यहां तक की प्रेम करने के लिए तैयार होने से पहले ही बताई जाना ज़रूरी हैं। आचरण और सिद्धांत को एक हद तक तो एक दूसरे से अलग रखा जाना ज़रूरी है। परन्तु लोगों को जैसा लगता है उससे कहीं ज़्यादा, इन्हें आपस में जोड़ने से हासिल किया जा सकता है। मेरी जान-पहचान के एक चिकित्सक मानते हैं कि महिलाओं को पता होना चाहिए कि प्रसव के दौरान क्या होता है और इसलिए वे अपनी दोनों बेटियों को – जो किशोरवय की थीं – बच्चा पैदा होता हुआ दिखाने ले गए। यह प्रसव अस्पताल में अच्छी व्यवस्था के बीच हुआ; मां को दर्द निवारक दवा दी गई थी ताकि वह बेहोश भी न हो और उसके दर्द को भी कम किया जा सके। दोनों बेटियों में से एक ने तो पिता को यह कह कर काफी व्यग्र कर दिया कि उसने इरादा कर लिया है कि जितनी जल्दी हो सके खुद बच्चा पैदा करेगी। आप यकीनन अंदाज़ा लगा सकते हैं कि जब उसको बच्चा हुआ तो उसने बच्चे की और अपनी मदद के लिए विज्ञान के तरीकों के पूरे-पूरे इस्तेमाल के लिए ज़ोर डाला और वो अन्य कई मांओं की तुलना में काफी कम डरी हुई थी।

कुछ लोग कहेंगे कि इस तरह की शिक्षा से नैतिकता का पतन होगा। नैतिकता का आधार है अपनी और

अपने पड़ोसियों की इज़्ज़त करना। आप ठीक आचरण ही नहीं कर सकते, अगर आपको यह न पता हो कि आप क्या कर रहे हैं और जो आप कर रहे हैं उसके क्या-क्या परिणाम हैं। कुछ और लोग कहेंगे कि अगर आप प्यार में से रहस्य को निकाल देंगे तो आप इसका मज़ा खो बैठेंगे। इसके विपरीत, मैं बसंत के रंगों को इसलिए ज़्यादा सराह सकता हूं क्योंकि मुझे उस रंजक की रासायनिक प्रवृत्ति के बारे में पता है जो नई पंखुड़ियों को, परिपक्व पंखुड़ियों से ज़्यादा पीला बनाता है। मैं शायद संगीत को बेहतर सराह सकता अगर मुझे संगीत के सिद्धांत पता होते। ऐसा ही प्यार (शारीरिक संबंध) के साथ है।

पर मैं एक क्षण के लिए भी यह नहीं मान रहा हूं कि मेरे ये सब प्रस्ताव जल्दी से अपना लिए जाएंगे। इस तरह की जानकारी के फैलाव का विरोध केवल धर्म के आधार पर नहीं होता। मिल्टन ने तीन सौ साल पहले 'संबंध विच्छेद' के बारे में लिखते हुए कहा था, "दुनिया में सबसे बड़ा बोझ अंधविश्वास है – केवल चर्च के अनुष्ठानों में ही नहीं बल्कि घर में भी – काल्पनिक और विभीषक पापों का।"

परन्तु मेरा यह भी सोचना है कि इस संबंध में हमारे सामने कुछ आदर्श तो होने ही चाहिए जिससे हम अपने काम करने की दिशा निर्धारित कर सकें।

जे. बी. एस. हाल्डेन: (1892-1964) प्रसिद्ध अनुवांशिकी विज्ञानी। विकास (evolution) के आधुनिक सिद्धांत को स्थापित करने में महत्वपूर्ण योगदान। विख्यात विज्ञान लेखक; उनके निबंधों का एक महत्वपूर्ण और रुचिकर संकलन 'ऑन बीइंग द राइट साइज़' शीर्षक से प्रकाशित है; प्रस्तुत निबंध 'वाट इज़ लाइफ' नाम के संकलन से लिया गया है।
कम्युनिस्ट विचारधारा के समर्थक हाल्डेन ने अपने जीवन का अंतिम समय भारत में अहिंसा के बारे में लिखते हुए गुज़ारा।

अनुवाद: **शशि सक्सेना:** दिल्ली के दीनदयाल उपाध्याय कॉलेज में रसायनशास्त्र पढ़ाती हैं।

अगर हाथी, केंचुआ होता. . .?

दीपक वर्मा

अगर हाथी, केंचुए की तरह सांस लेता तो क्या होता? आखिर क्या बला है ये सांस . . . ऑक्सीजन फेफड़ों से कहां जाती है . . . शरीर के आकार और श्वसन सतह का संबंध क्या है. . . ?

अचानक एक ख्याल दिमाग में कूदना शुरू हो गया है कि हाथी त्वचा से सांस क्यों नहीं लेता? हो सकता है कि आप कहें कि अजीब बेहूदा ख्याल है; अरे भई अच्छी भली नाक बनी है सांस लेने को तो कोई त्वचा से सांस क्यों ले भला। लेकिन मैं कहूंगा कि आप मेरी परेशानी समझ नहीं रहे।

अब देखिए न, अभी-अभी मुझे केंचुए के बारे में मालूम पड़ा है कि वो अपनी त्वचा से सांस लेता है। तो फिर मैं क्यों न सोचूं कि हाथी त्वचा से सांस क्यों नहीं लेता?

केंचुए में श्वसन

शायद आपने गौर किया होगा कि बरसात में कहीं भी रेंगता दिखने वाला केंचुआ गर्मी आते ही गायब हो जाता है। दरअसल उन दिनों यह ज़मीन में नीचे ऐसी जगहों में घुस जाता है जहां पर्याप्त रूप से नमी हो; क्योंकि यह सांस ले पाए इसलिए यह ज़रूरी है कि इसकी त्वचा नम बनी रहे। वातावरण की ऑक्सीजन त्वचा की नमी में घुलती है और विसरण द्वारा रक्त में पहुंच जाती है। त्वचा के नीचे खून की नलिकाओं का जाल बिछा रहता है। ये रक्त इस ऑक्सीजन को शरीर की कोशिकाओं तक पहुंचा देता है।

क्यों चाहिए ऑक्सीजन

प्रकृति में कई तरह के जीव हैं कुछ एक कोशीय और बहुत बड़ी संख्या में बहुकोशीय। सभी को ऊर्जा
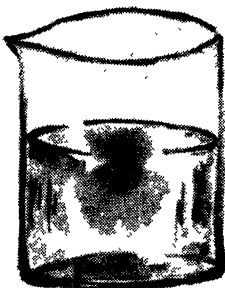
विसरण का सीधा-सा मतलब है पदार्थ का सांद्र अवस्था से तनु अवस्था की ओर चलना; एक प्रयोग कीजिए – एक बीकर में थोड़ा-सा पानी लेकर उसमें थोड़ा-सा स्याही का घोल मिलाइए देखिए क्या होता है?

दरअसल कोशिका में ऑक्सीजन सिर्फ विसरण द्वारा ही प्रवेश कर सकती है। यानी जब कोशिका के अंदर ऑक्सीजन का अनुपात कम हुआ तो ऑक्सीजन अंदर चली गई; इसी तरह जब अंदर कार्बन डाइऑक्साइड का प्रतिशत अधिक हुआ तो वो विसरित होकर बाहर निकल आई। ये दोनो प्रक्रियाएं लगातार चलती रहती हैं।

की ज़रूरत होती है। ये ऊर्जा पैदा होती है हर कोशिका में। जिस रासायनिक क्रिया में ऊर्जा का उत्पादन होता है उसमें ऑक्सीजन की ज़रूरत होती है। इस क्रिया में ऊर्जा तो पैदा होती ही है साथ ही कार्बन डाइऑक्साइड और पानी भी बनता है। अगर यह कार्बन डाइऑक्साइड अंदर ही रह जाए तो शरीर के लिए यह ज़हर के समान है।

चूंकि ये क्रियाएं लगातार चलती रहती हैं इसलिए कोशिका को लगातार ऑक्सीजन की ज़रूरत होती है, साथ ही कार्बन डाइऑक्साइड का निरन्तर बाहर निकलना भी इतना ही ज़रूरी है। तो कोशिका तक ऑक्सीजन का पहुंचना और वहां बनी कार्बन डाइऑक्साइड का बाहर निकलना यानी गैसों का ये आदान प्रदान ही श्वसन है। बस विभिन्न जंतुओं में इसी आदान प्रदान के लिए कई तरह के श्वसन के तरीके विकसित हुए हैं। जैसे कि केंचुए का उसकी त्वचा से सांस लेना, मछली का गलफड़ों के ज़रिए और हमारा यानी इंसान का फेफड़ों की मदद से सांस ले पाना।

विसरण

ऊपर केंचुए के वर्णन में आपने विसरण शब्द पर गौर किया होगा। विसरण का सीधा-सा अर्थ है – पदार्थ का अधिक सांद्रता से कम सांद्रता की दिशा में चलना। दरअसल कोशिका में ऑक्सीजन केवल घुली हुई अवस्था में प्रवेश कर सकती है; वो भी सिर्फ विसरण द्वारा। इसलिए श्वसन हो पाए इसके लिए पहली शर्त है कि कोशिका के

आसपास ऑक्सीजन घुली हुई अवस्था में हो।

लेकिन बात इतनी आसान भी नहीं है। दरअसल किसी भी श्वसन मेकेनिज़्म का विकास मूल रूप से तीन बातों पर निर्भर करता है:

1. जीव की ऑक्सीजन की खपत कितनी है; यानी वह कितना सक्रिय है 2. उसके आसपास का वातावरण कैसा है और 3. उसका आकार कैसा है।

आकार और विसरण

मान लो यह एक जीव है।
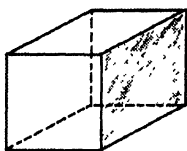
अब हमने इसका आकार दुगुना कर दिया। ज़रा देखिए क्या हुआ –
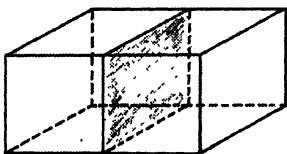
इसका आयतन तो दुगुना हो गया लेकिन इसकी सतह का क्षेत्रफल उतनी तेज़ी से नहीं बढ़ा, यानी कि दुगुना नहीं हुआ। अब अगर ऐसे ही और घन रखते जाएं तो आयतन तो बढ़ता जाएगा लेकिन क्षेत्रफल तेज़ी से नहीं बढ़ेगा।

इसलिए जब आकार बड़ा होता है तो सीधे विसरण द्वारा काम नहीं चलता। छोटी दूरी – एक मिलीमीटर तक – के लिए तो ये प्रक्रिया काफी तेज़ है लेकिन दूरी बढ़ने पर विसरण अत्यंत धीमा हो जाता है। इसलिए बड़े प्राणियों में – जहां ज़्यादातर कोशिकाएं त्वचा से बहुत दूर हैं – तो ऑक्सीजन पहुंचना मुश्किल ही हो जाएगा और यही स्थिति कार्बन डाइऑक्साइड के निकलने को लेकर होगी।

लेकिन शरीर की ज़रूरत है कि हर कोशिका को लगातार ऑक्सीजन मिलती रहे। इसके लिए एक ऐसे माध्यम की ज़रूरत होती है जो ऑक्सीजन को श्वसन सतह से लेकर प्रत्येक कोशिका तक लगातार पहुंचाता रहे और वहां से कार्बन डाइऑक्साइड लेकर उसे श्वसन सतह पर लाकर छोड़ता रहे। शरीर में खून का एक प्रमुख काम यही है।

लेकिन अभी दो समस्याएं और खड़ी हैं। अगर कोई बड़ा प्राणी अपनी त्वचा से सांस ले रहा है तो उसकी त्वचा को नम रहना होगा। साथ ही रक्त कोशिकाओं और

वातावरण के बीच विसरण तेज़ी से हो पाए इसलिए त्वचा को अच्छा खासा पतला भी होना पड़ेगा।

अब जैसा कि हम सोच रहे हैं कि हमारा हाथी त्वचा से सांस लेता होता. . . ! हाथी तो पूरी तरह ज़मीन पर खुले वातावरण में रहने वाला जानवर है. . . तो क्या होता. . . . खुले में उसकी त्वचा की नमी काफी तेज़ी से वाष्पित होती रहती. . . यानी उसकी ज़िंदगी की सबसे बड़ी लड़ाई होती अपनी त्वचा की नमी बनाए रखने की ताकि ऑक्सीजन घुलती रहे; और इसी से जुड़ी लड़ाई होती अपनी नाजुक, पतली त्वचा को बचाए रखने की।

लेकिन शायद एक महत्वपूर्ण सवाल अभी भी बचा है – वो है क्रियाशीलता का। अगर आयतन की तुलना में सतह का क्षेत्रफल कम है तो खून कम ही ऑक्सीजन ले जा सकेगा; और इसका असर सीधे-सीधे जीव की क्रियाशीलता पर पड़ेगा। इसलिए क्रियाशील और बड़े बहुकोशीय जीव को गैसीय आदान प्रदान के लिए ऐसी सतह चाहिए जिसका क्षेत्रफल काफी बड़ा हो। ऐसे में हमारा तेज़ी से भागने दौड़ने वाला हाथी त्वचा से सांस ले रहा होता तो क्या होता सोचिए. . . !

वैसे एक वाक्य में कहें तो सभी श्वसन तंत्रों की कोशिश है कि अपने आसपास के वातावरण से कैसे अधिक-से-अधिक ऑक्सीजन हासिल की जा सके। चाहे वो हाथी का तंत्र हो या मछली का या फिर. . .।

दीपक वर्मा – संदर्भ में कार्यरत।

एक कोशीय या फिर बहुत छोटे जीवों का सतह और आयतन का संबंध पर्याप्त होता है इसलिए वे अपनी सतह से ही विसरण के द्वारा ऑक्सीजन ग्रहण कर लेते हैं।

एक बड़े जीव के पास उसके आयतन की तुलना में सतह का क्षेत्रपल कम होता है। इसलिए सिर्फ सतह से विसरण द्वारा पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन मिलना मुश्किल होता है।
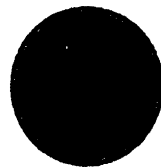
इस वजह से इनमें ऐसे विशेष श्वसन सतह विकसित हुई हैं जिनका क्षेत्रफल काफी ज़्यादा होता है। जैसे कि इंसान के फेफड़े।
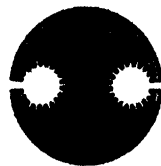
सांस लेने के तरीके

भरत पूरे

चाहे जीव जलीय हों या फिर ज़मीन पर रहने वाले – सभी को वातावरण से गैसों का आदान प्रदान करने के लिए श्वसन सतह की ज़रूरत होती है। कुछ में शरीर की त्वचा ही यह काम करती है तो कुछ में इस श्वसन सतह के लिए विशेष अंग विकसित हुए हैं।

शायद इस सवाल ने कभी आपको भी परेशान किया होगा कि हम सांस क्यों लेते हैं? जीव-जंतु, पेड़-पौधे सभी सांस लेते हैं; लेकिन यहां हम अपनी चर्चा को केवल जीव-जंतुओं तक ही सीमित रखेंगे।

दरअसल सभी जीवधारियों को विभिन्न शारीरिक गतिविधियों के लिए ऊर्जा की ज़रूरत होती है। इसलिए प्रत्येक जीवधारी को किसी-न-किसी तरह पोषण करना होता है। पोषण के लिए जो भोज्य-पदार्थ लिए जाते हैं, ऊर्जा की आपूर्ति उनसे ही होती है। भोज्य-पदार्थों में प्रोटीन, सेल्युलोज़ कार्बोहाइड्रेट एवं वसा विभिन्न अनुपात में होते हैं। शरीर के भीतर प्रत्येक कोशिका में इन्हीं में से मुख्य तौर पर कार्बोहाइड्रेट और वसा पदार्थों का ऑक्सीकरण होता है। ऑक्सीकरण की इस क्रिया में ऊर्जा निकलती है। और ऑक्सीकरण हो पाए इसके लिए ज़रूरी है वहां ऑक्सीजन का होना।

अतः श्वसन सिर्फ सांस लेने या छोड़ने की क्रिया न होकर कोशिका के जीवद्रव्य में होने वाली वे रासायनिक क्रियाएं हैं जिनसे ऊर्जा मुक्त होती है। चूंकि ये कोशिका में होता है इसलिए इसे कोशिकीय श्वसन भी कहते हैं।

चूंकि इसमें ऑक्सीजन की उपस्थिति में श्वसन होता है इसलिए इसे ऑक्सी श्वसन भी कहा जाता है। अधिकांश जीव इसी तरह से श्वसन करते हैं।

रक्त का काम

जीव जो आहार ग्रहण करते हैं उसका पाचन होता है। पाचन से तात्पर्य है, आहार में उपस्थित सेल्युलोज़, प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट एवं वसा का सरल रासायनिक अणुओं में टूटना। आहार नाल में बिछी रक्त वाहिनियों द्वारा ये पदार्थ अवशोषित कर लिए जाते हैं और फिर रक्त द्वारा शरीर की प्रत्येक कोशिका तक पहुंचा दिए जाते हैं। अब भोज्य पदार्थ तो कोशिकाओं तक पहुंच गए। लेकिन इनका ऑक्सीकरण हो पाए इसके लिए ज़रूरी है ऑक्सीजन का होना। ये ऑक्सीजन शरीर में कैसे प्रवेश करती है एवं उसे कोशिकाओं तक कैसे पहुंचाया जाता है?

सांस द्वारा हवा फेफड़ों में पहुंचती है। हवा में ऑक्सीजन के अलावा और भी अनेक गैसें होती हैं जैसे कि नाइट्रोजन और कार्बन डाइऑक्साइड। लेकिन इस मिश्रण में से शरीर को केवल ऑक्सीजन की ज़रूरत होती है। अतः फेफड़ों में ऐसी कोई व्यवस्था आवश्यक है जो सांस द्वारा ली गई हवा में से केवल ऑक्सीजन को सोख ले तथा कोशिकीय श्वसन के दौरान पैदा कार्बन डाइऑक्साइड को बाहर निकाल दे।

फेफड़ों में रक्त वाहिनियों का जाल बिछा रहता है। रक्त में मौजूद विशेष प्रकार की लाल कोशिकाओं में एक रसायन होता है – हीमोग्लोबिन। इस की खूबी यह होती है कि जैसे ही यह हवा के संपर्क में आता है, उसमें उपस्थित ऑक्सीजन के साथ यह तुरन्त रासायनिक क्रिया कर एक यौगिक बना लेता है। या यूं कहें कि हवा की ऑक्सीजन को अपने साथ बांध लेता है। इस यौगिक को ऑक्सी-हीमोग्लोबिन कहते हैं। ऑक्सीजन लिया हुआ ये रक्त जब कोशिकाओं तक पहुंचता है तो वहां इसका विघटन हो जाता है। और यह ऑक्सीजन कोशिका के पास चली जाती है। यही ऑक्सीजन कोशिका के जीवद्रव्य में उपस्थित शर्कराओं और वसा का ऑक्सीकरण करती है।

इस पूरी रासायनिक प्रक्रिया में ऊर्जा तो मुक्त होती ही है साथ ही कार्बन डाइऑक्साइड का निर्माण भी होता है। रक्त इस कार्बन डाइऑक्साइड को लेकर वापस फेफड़ों तक पहुंचता है। इस तरह फेफड़ों में रक्त न सिर्फ ऑक्सीजन ले जाने का काम करता है बल्कि कार्बन डाइऑक्साइड को लेकर आने का काम भी करता है। यह कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ी हुई सांस के साथ बाहर निकल जाती है।

संक्षेप में देखें तो यह पूरी प्रक्रिया दो चरणों में पूरी होती है।

1. ऑक्सीजन को कोशिकाओं तक पहुंचाना।
2. कार्बन-डाइऑक्साइड को शरीर से बाहर निकालना।

कैसी-कैसी श्वसन सतह

सांस लेने और छोड़ने के लिए भूमि पर और जल में रहने वाले बहुत-से जीव-जंतु फेफड़ों का उपयोग करते हैं। किन्तु सभी जीव जन्तुओं में फेफड़े नहीं होते। दरअसल फेफड़े सिर्फ ऐसी सतह हैं जहां वायुमंडल एवं शरीर की कोशिकाओं के मध्य गैसीय आदान-प्रदान होता है। हम इसे श्वसन सतह कह सकते हैं। अत: जिन जन्तुओं में फेफड़े नहीं होते उनमें किसी और तरह की श्वसन सतह हो सकती है। मुख्य तौर पर श्वसन सतह ऐसी होती हैं:
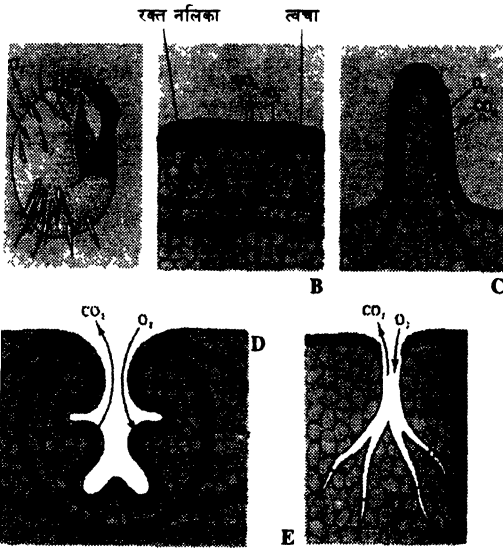
A. अधिकतर एक कोशीय जीव पानी में रहते हैं। उनमें अपने आसपास के जलीय वातावरण से सीधे विसरण द्वारा गैसीय आदान प्रदान हो जाता है। जब भी जीव के अंदर ऑक्सीजन की सांद्रता कम हुई वह बाहर से रिसकर अंदर आ जाती है और जब अंदर कार्बन डाइऑक्साइड का अनुपात अधिक हो जाता है तो वह विसरित हो बाहर निकल जाती है। **B.** कुछ काफी छोटे जीव, या फिर थोड़े बड़े – लेकिन जिनकी ऑक्सीजन की खपत कम है – वो अपनी शरीर की सतह (त्वचा) से ही श्वसन कर लेते हैं। सतह के ठीक पीछे रक्त नलिकाओं का जाल बिछा रहता है। विसरण (Diffusion) तेज़ी से हो सके इसलिए इनकी त्वचा बहुत पतली होती है। वैसे कुछ उभयचर (जैसे मेंढक) त्वचा के साथ-साथ फेफड़ों से भी श्वसन करते हैं। **C.** गलफड़े शरीर के बाहर की ओर स्थित श्वसन सतह है। बहुत पतली इस सतह के पीछे रक्त नलिकाएं होती हैं। **D.** सीधे हवा से सांस लेने वाले जीवों में आमतौर पर फेफड़े पाए जाते हैं। फेफड़े अंदर की और मुड़ी श्वसन सतह है जिसका क्षेत्रफल बहुत अधिक होता है। ऐसे जीवों में ऑक्सीजन को प्रत्येक कोशिका तक पहुंचाने का काम रक्त को करना होता है। **E.** कीटों में शरीर के अंदर नलियों का जाल बिछा रहता है। ये ऊतकों (Tissues) के पास पहुंचकर खत्म हो जाती हैं। हवा इनमें प्रवेश करती है,महीन नलिकाओं के ज़रिए प्रत्येक कोशिका तक पहुंच जाती है।

लेमेला में रक्त और पानी का विपरीत बहाव
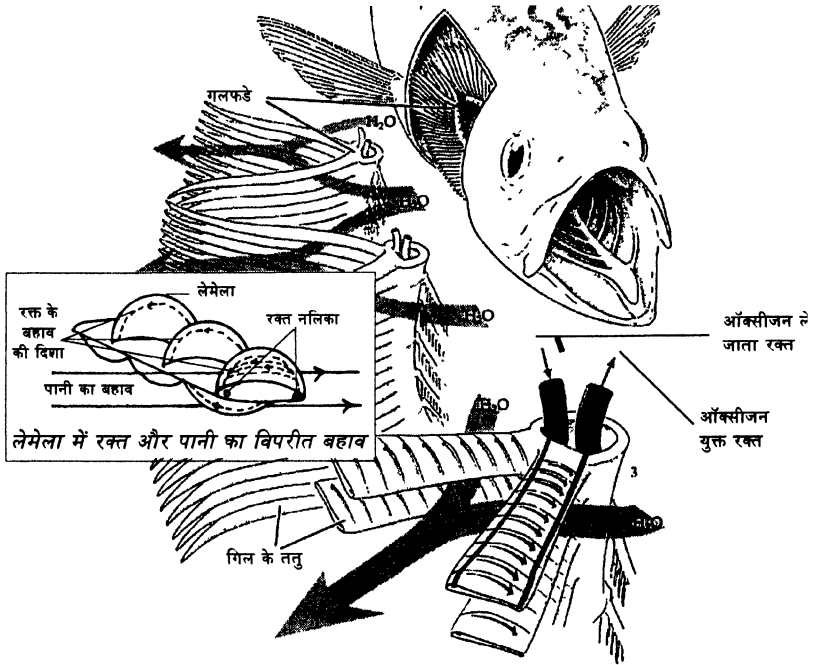
रक्त और पानी की विपरीत दिशाः

जलीय जंतुओं को एक फायदा है – ऑक्सीजन का पहले से पानी में घुला होना; इसलि उन्हें ज़मीनी जंतुओं जैसे पहले ऑक्सीजन को घोलने की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन ए दिक्कत भी है, वो यह कि पानी में ऑक्सीजन की मात्रा काफी कम होना – लगभग 0. प्रतिशत। इसमें से वे कैसे पर्याप्त ऑक्सीजन ग्रहण कर पाएं, उनके श्वसन तंत्र की विशेषत इसी में है।

प्रत्येक गिल हज़ारों छोटे-छोटे तंतुओं से मिलकर बना होता है; ये तंतु प्लेट (डिस्क) जैस छोटी-छोटी रचनाओं से मिलकर बने होते हैं, जिन्हें लेमेला कहते हैं। दरअसल यही लेमेल वो हल है जिनकी मदद से जलीय जीव – पानी में चुस्ती से सांस ले पाते हैं। लेमेला में र नलिकाओं का जाल बिछा रहता है। और बहते खून से पानी की दूरी काफी कम – ए कोशिका जितनी मोटाई के बराबर – होती है। इस पतली सतह का मतलब है र कोशिकाओं और पानी में घुली ऑक्सीजन के बीच विसरण तेज़ी से होना। यह पानी मुंह रास्ते से दाख़िल होता है और गिल के ढक्कन से होकर बाहर निकलता है और गिल के ह तंतु के संपर्क में आता है, वहीं रक्त इसके विपरीत दिशा में चल रहा होता है। इसी विपरीत धा प्रवाह की वजह से रक्त, पानी में मौजूद ऑक्सीजन में से अधिकतम ऑक्सीजन ले लेता है
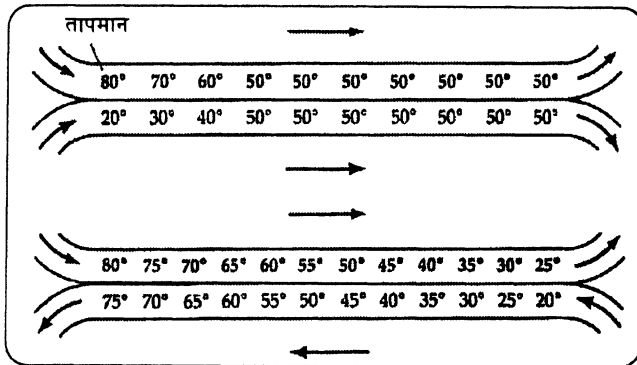
विपरीत प्रवाह का फायदा: ऊष्मा के संचरण का सबसे बढ़िया अनुभव होता है जब गर्म दूध से भरे गिलास को ठंडा करने के लिए थोड़े से पानी में हिलाया जाता है; थोड़ी ही देर में पानी अच्छा-खासा गर्म हो उठता है। अब हम जिस प्रयोग की बात कर रहे हैं उसमें थोड़ा अपने अनुभव को भी जोड़ना पड़ेगा।

मान लीजिए दो पाइप एक दूसरे से सटे हुए रखे हैं जिनके बीच ऊष्मा का आदान-प्रदान हो सकता है। अब एक में आपने 80 डिग्री से. के गर्म पानी को बहाना शुरू किया और दूसरे में 20 डिग्री सेल्सियस के पानी को। दोनो एक ही दिशा में बह रहे हैं। इस स्थिति में ऊष्मा गर्म से ठंडे की ओर बहनी शुरू होगी। लेकिन एक बार जहां दोनो पाइपों में पानी का ताप एकसमान हो गया उष्मा बहनी बंद हो जाएगी।

अब ज़रा दूसरी स्थिति पर गौर कीजिए जिसमें दोनो पाइपों में पानी विपरीत दिशा में बह रहे हैं। इस दिशा में उष्मा का संचरण अधिक बेहतर होगा क्योंकि नीचे वाले पाइप में बह रहा ठंडा पानी गर्म तो होता जाएगा लेकिन हर बिन्दु पर वह ऊपर वाले पाइप के गर्म पानी से कम ताप का ही रहेगा इसलिए हर बिन्दु पर नीचे का पानी कुछ और गर्म हो जाएगा और इस तरह एक दिशा में प्रवाह की तुलना में अधिक ऊष्मा सोखने में सक्षम है।।

मछली के गलफड़ों में बहता रक्त, पानी के प्रवाह की विपरीत दिशा में बहने के कारण, पानी में मौजूद (जिसमें कि ऑक्सीजन की मात्रा बेहद कम हैं) अधिकतर ऑक्सीजन सोखने में कामयाब हो जाता है।

सौ वर्ग मीटर के फेफडे:

धरती पर रहने वाले जंतुओं को सूखे मौसम का सामना करना पड़ता है, जिसमें पानी के वाष्पन की दर काफी तेज़ होती है। इसलिए अगर श्वसन अंग बाहर की ओर हों तो सबसे बड़ी दिक्कत होगी उन्हें लगातार गीला रख पाने की, ताकि ऑक्सीजन लगातार घुलती रहे। इस समस्या से निपटने का एक तरीका है शरीर के अंदर की ओर मुड़ी श्वसन सतह जो सीधे बाहरी वातावरण के संपर्क में न हो। दूसरी ज़रूरत है कि सतह पर्याप्त रूप से बड़ी हो ताकि सोखी जानी वाली ऑक्सीजन की मात्रा हर कोशिका की ज़रूरत को पूरा कर सके। । तीसरी आवश्यकता है किसी माध्यम की। जो श्वसन सतह से ऑक्सीजन लेकर उसे हर कोशिका तक

1. 2. 3.

A. B. C.
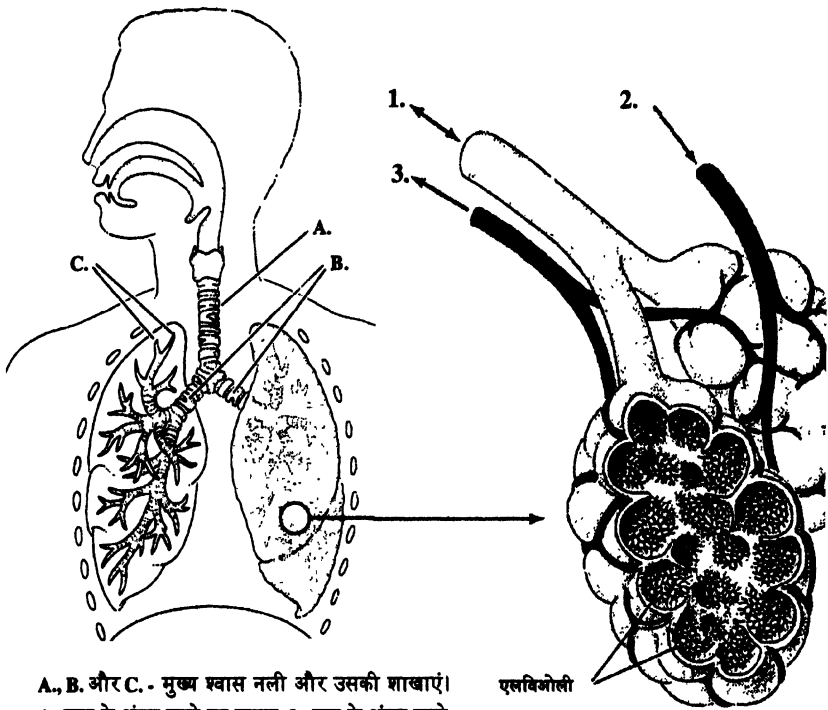
एलविओली

A., B. और C. - मुख्य श्वास नली और उसकी शाखाएं। 1. हवा के अंदर जाने का रास्ता 2. खून के अंदर जाने का रास्ता 3. अंदर से होकर ऑक्सीजन युक्त खून यहां से बाहर निकलता है।

पहुंचा सके, और कोशिका में पैदा हो रही कार्बन डाइऑक्साइड को बाहर निकालने का काम भी कर सके।

फेफड़े अंदर की ओर मुड़ी एक संरचना है – एक लचीली थैली की तरह। इस बैग में छोटे-छोटे बुलबुलों के समान रचनाएं होती हैं जिन्हें 'एलविओली' कहते हैं – गैसों का आदान प्रदान यहीं होता है, ये हमेशा नम बने रहते हैं। इनकी वजह से फेफड़ों का क्षेत्रफल काफी बढ़ जाता है। अगर फेफड़ों को बाहर निकालकर बिछा दिया जाए तो ये करीब सौ वर्ग मीटर की जगह घेर लेंगे। 'एलविओली' में रक्त नलिकाओं का जाल बिछा रहता है। ये रक्त शरीर की कोशिकाओं से होकर यहां आता है कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ता है और ऑक्सीजन लेकर फिर वापस कोशिकाओं की ओर चला जाता है।
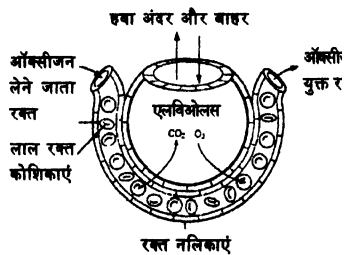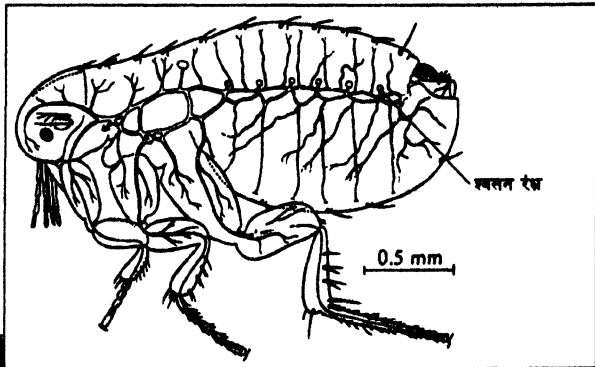
बाजुओं में मौजूद श्वसन रंध्र; ये बंद होते और खुलते रहते हैं; हवा इन्हीं में से होकर प्रवेश करती है। ऊपर के चित्र में पिस्सु के श्वसन रंध्र और उसकी मुख्य श्वसन नलिकाएं दिखाई गई हैं।

गैसों के आदान प्रदान के लिए नलिकाएं:

शरीर के अंदर की ओर विकसित एक दूसरी तरह का तंत्र है ट्रेकिअल तंत्र। कीट (Insects) इसी तरह श्वसन करते हैं।

इनमें शरीर के अंदर नलिकाओं का जाल बिछा रहता है (देखिए चित्र); जो शरीर के प्रत्येक ऊतक तक पहुंचती हैं; ये नलिकाएं दोनो बाजुओं में स्थित श्वसन रंध्रों की मदद से बाहरी वातावरण से जुड़ी रहती हैं। हवा इन रंध्रों में से होकर सीधे नलिकाओं में घुसती है; नलिका के अंतिम सिरे पर द्रव भरा रहता है; हवा की ऑक्सीजन इसमें घुल जाती है और नलिका से जुड़े कोशिकीय ऊतक में विसरित हो जाती है। इसी तरह कोशिका के अंदर पैदा कार्बन डाइऑक्साइड भी विसिरत हो इस द्रव के माध्यम से नलिकाओं की हवा में मिल जाती है। यानी इस तंत्र में ऑक्सीजन ले जाने वाले किसी माध्यम (जैसे कि खून) की ज़रूरत नहीं पड़ती। इस तंत्र की दक्षता इसी से समझ में आती है कि कीट काफी फुर्तीले और चुस्त जीव हैं; यानी उनके काम के लिए पर्याप्त ऑक्सीजन इस तरीके से हासिल हो जाती है।

ऊपर के चित्र में: कीट के शरीर में बिछी श्वसन नलिकाओं का जाल; बीच में दिख रहा काला बिन्दु श्वनस रंध्र है जिसमें से होकर हवा प्रवेश करती है।

इन सभी श्वसन सतहों में एक बात ध्यान देने योग्य है कि जिन जन्तुओं में श्वसन सतह एवं शरीर की ऊतकीय कोशिकाओं में दूरी है वहां गैसों को ऊतकों तक लाने ले जाने का कार्य रक्त को करना होता है। इस हेतु रक्त में ऐसे विशिष्ट रासायनिक पदार्थ होते हैं जो ऑक्सीजन के साथ सरलता से मिलकर यौगिक बना सकें एवं कोशिकाओं के समीप विघटित होकर ऑक्सीजन मुक्त कर सकें।

इन पदार्थों को 'Respiratory Pigment' कहते हैं। उदाहरण के लिए हमारे खून में पाया जाने वाला हीमोग्लोबिन। हीमोग्लोबिन लगभग सभी रीढ़धारी जन्तुओं के खून के अलावा केंचुए के रक्त में भी होता है। फर्क सिर्फ इतना है कि केंचुए के रक्त में हीमोग्लोबिन कोशिकाओं में न होकर द्रव में घुला होता है। किन्तु कुछ जन्तुओं जैसे घोंघे, सीप, झिंगों, केकड़ों आदि के रक्त में हीमोग्लोबिन के बजाए हीमोसायनिन नामक पदार्थ होता है। इस पदार्थ की वजह से इनके रक्त का रंग नीला होता है। कुछ प्रकार के केंचुओं में हेमएरिथ्रिन या क्लोरोक्रुओरिन प्रकार के पदार्थ होते हैं।

अभी तक जो हमने देखा उसमें श्वसन क्रिया में किसी-न-किसी भोज्य पदार्थ के ऑक्सीकरण की क्रिया अवश्य

होती है। लेकिन कुछ परजीवी जैसे फीताकृमि, गोलकृमि आदि जो किसी दूसरे जंतु के शरीर के किसी अंग में अपना जीवन जीते हैं उन तक तो हवा या ऑक्सीजन नहीं पहुंचती तो फिर ये श्वसन कैसे करते होंगे? कुछ सूक्ष्म जीव तो ऐसे वातावरण में रहते हैं जहां ऑक्सीजन उपलब्ध नहीं होती। लेकिन उन्हें भी ऊर्जा की ज़रूरत तो होती ही है। इसे ये कैसे पूरा करते हैं?

अनॉक्सी श्वसन

दरअसल इनमें जिन रासायनिक क्रियाओं के द्वारा ऊर्जा पैदा होती है उनमें ऑक्सीजन की ज़रूरत नहीं होती। इसलिए इसे अनॉक्सी श्वसन कहते हैं। इनमें ऊर्जा के साथ-साथ कार्बन-डाइऑक्साइड बनने की अपेक्षा अन्य रासायनिक पदार्थों का निर्माण होता है या फिर कार्बन डाइऑक्साइड के साथ अन्य रासायनिक पदार्थ बनते हैं। उदाहरण के लिए खमीर के जीवाणु यीस्ट की श्वसन क्रिया में इथाइल अल्कोहल एवं कार्बन डाइऑक्साइड निर्मित होते हैं। लेकिन अनॉक्सी-श्वसन में पैदा होने वाली ऊर्जा ऑक्सी श्वसन के मुकाबले काफी कम होती है।

वैसे अगर हमें भी कभी अनॉक्सी श्वसन करना पड़े तो – घबराइए नहीं लेकिन ये सच है कि कभी-कभी हम ऑक्सी श्वसन करने वाले जंतुओं को भी ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है!

ये तो शायद अनुभव किया होगा कि खूब तेज़ दौड़ने या कसरत करने के दौरान सांस का चलना काफी तेज़ हो जाता है और रुकने के बाद थोड़ी देर तक थकान का अनुभव होता है। दरअसल इन स्थितियों के दौरान शरीर की क्रियाशीलता काफी बढ़ जाती है। इसलिए अधिक ऊर्जा की ज़रूरत होती है; यानी कोशिकाओं को अधिक ऑक्सीजन चाहिए; लेकिन उन्हें उतनी फुर्ती से ऑक्सीजन नहीं मिल पाती इसलिए शरीर में ऑक्सीजन की कमी हो जाती है; परिणाम स्वरूप कोशिका में चलने वाली रासायनिक क्रिया में कार्बन डाइऑक्साइड और ऊर्जा उत्पादित होने की बजाए लेक्टिक अम्ल (जो अनॉक्सी-श्वसन का उत्पाद है) बनने लगता है।

इसीलिए कसरत करने और तेज़ दौड़ने के बाद भी काफी देर तक सांस धौंकनी के समान चलती रहती है ताकि ऑक्सीजन की कमी को पूरा किया जा सके और बने लेक्टिक अम्ल से छुटकारा पाया जा सके। लेक्टिक अम्ल और ऑक्सीजन की क्रिया से कार्बन डाइऑक्साइड, पानी और ऊर्जा पैदा होती है। तो अबकी बार अगर दौड़ने के बाद थकान महसूस हो आपको तो मालूम ही होगा कि इसकी वजह क्या है।

भरत पूरे: इंदौर के होलकर विज्ञान महाविद्यालय में प्राणीशास्त्र के प्राध्यापक।

दिमाग के बीच पड़ी एक ग्रंथी

दिमाग़ के बीचों-बीच पड़ी है एक ग्रंथी – पीनियल। आखिर इसका काम क्या है? कुछ जंतुओं में तो इसके काम के बारे में स्पष्टता है तो कुछ में यह अभी भी सवाल बनी हुई है।

जीव शास्त्र पढ़ते वक्त प्राणियों के शरीर में कई सारी अंत: स्रावी ग्रंथियों का ज़िक्र आता है – थाइरॉयड, पिट्युटरी, एड्रीनल, . . . और इन सब के साथ-साथ पीनियल ग्रंथी का भी, मस्तिष्क के एकदम पास ऊपर की तरफ स्थित एक छोटी-सी ग्रंथी। पीनियल ग्रंथी की मौजूदगी के बारे में तो आज से लगभग करीब ढाई हज़ार साल पहले अरस्तू को भी मालूम था परन्तु बीसवीं सदी के मध्य तक केवल अंदाज़ लगाए जा रहे थे कि आखिर यह ग्रंथी करती क्या है। क्योंकि बहुत से प्राणियों में पीनियल ग्रंथी को एकदम से निकाल देने के बावजूद उन जीवों पर कोई असर पड़ता दिखाई नहीं देता था। बहुत समय तो पीनियल इसलिए भी आश्चर्य का विषय बनी रही क्योंकि यही एक अंग मस्तिष्क में ऐसा था जिसका कोई जोड़ीदार नहीं था – दिमाग में अन्य सब रचनाएं जोड़ियों में होती हैं। इस सदी की शुरुआत में मेंढक पर खोजबीन करते हुए अचानक किसी ने पाया कि पीनियल ग्रंथी प्रकाश के प्रति संवेदनशील होती है, इस खोज से अचानक हलचल बढ़ गई और बहुत से लोग यह पता लगाने में जुट गए कि आखिर शरीर के अंदर रोशनी से दूर, खोपड़ी में छिपे हुए एक प्रकाश संवेदी अंग का क्या काम?

इस सब जांच पड़ताल के दौरान समझ में आया कि पीनियल ग्रंथी का इतिहास काफी मज़ेदार है और पेचीदा भी – यहां पर हम जीव विकास के दौरान किसी अंग के लाखों-करोड़ों
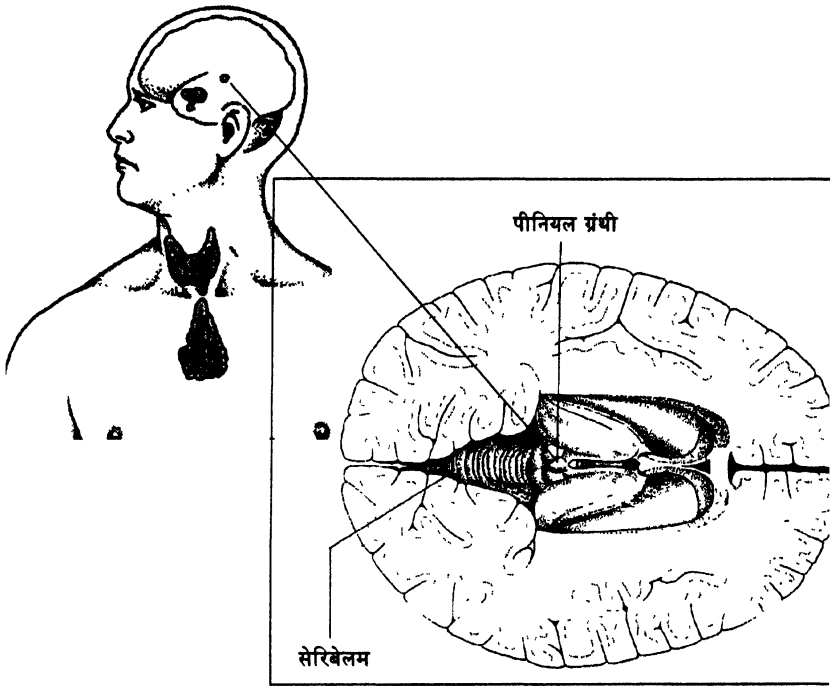
इंसान में पीनियल ग्रंथी: अगर दिमाग की आड़ी काट लें यानी ऊपर की तरफ से देखें तो यह बिल्कुल बीच में दिखाई पड़ेगी।

सालों के इतिहास की बात कर रहे हैं। आइए जानने की कोशिश करें कि इस लंबे दौर में विभिन्न प्राणियों में पीनियल ग्रंथी ने क्या-क्या भूमिकाएं निभाईं। यह इतिहास पता करने का एक तरीका है प्राणियों के विभिन्न समूहों में आज की स्थिति में पीनियल ग्रंथी का अध्ययन।

कुछ शुरुआती रीढ़धारियों में पीनियल ग्रंथी कुछ-कुछ आंख जैसी दिखती है, एकदम छोटी-सी आंख और यह आंखनुमा रचना प्रकाश के प्रति संवेदनशील भी होती है।

इन प्राणियों में पीनियल ग्रंथी पर प्रकाश पड़ने पर न सिर्फ तंत्रिकाएं उत्तेजित हो जाती हैं बल्कि मेलाटोनिन नाम का हार्मोन भी स्रावित होता है जिसका एक प्रभाव है चमड़ी का रंग हल्का पड़ जाना। यह प्रभाव इन शुरुआती रीढ़धारियों में दिखता है।
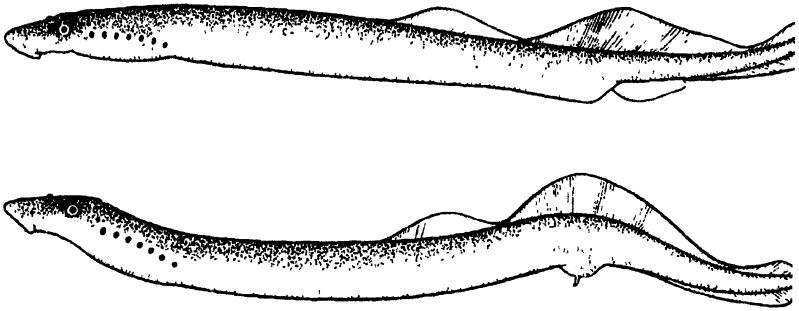
लेम्प्रे मछली

यह दिखाया गया है कि इन प्राणियों में 24 घंटे के अंतराल पर होने वाली बहुत-सी नियमित गतिविधियों के नियंत्रण में पीनियल ग्रंथी का सक्रिय हाथ है।

लेम्प्रे नामक जबड़ा-विहीन मछलियों में तो यह पीनियल ग्रंथी सर पर ऊपर की तरफ एकदम चमड़ी पर स्थित होती है। ऐसे में इसे 'तीसरी आंख' कहा जा सकता है परन्तु विभिन्न प्रयोगों से यह साबित हुआ है कि लेम्प्रे मछलियों में यह रचना प्रकाश संवेदी ज़रूर होती है परन्तु आंख की तरह देखने का काम नहीं करती। लेम्प्रे के लार्वा का रंग दिन को गहरा जाता है और रात को हल्का हो जाता है, उनमें यह बदलाव पीनियल ग्रंथी के कारण ही होता है। इसके अलावा ऐसे भी सबूत हैं कि लेम्प्रे मछलियों में पीनियल ग्रंथी कायांतरण और प्रजनन को भी प्रभावित करती है। अगर लेम्प्रे की लार्वा अवस्था में से यह ग्रंथी निकाल दी जाए तो उनमें कायांतरण नहीं होता वे लार्वा ही बने रहते हैं, मछली नहीं बन पाते।

सरीसृपों, विशेषतौर पर छिपकलियों की कुछ प्रजातियों में भी यह ग्रंथी 'तीसरी आंख' के रूप में सर पर मौजूद होती है। उनमें इसकी रचना काफी हद तक साधारण आंख जैसी होती है। पाया गया है कि इनमें यह एक थर्मोमीटर का काम करती है। सरीसृपों में शरीर का तापमान वातावरण के तापमान के अनुसार बदलता रहता है। इसलिए वातावरण के तापमान के बदलाव के प्रति वे अत्यन्त संवेदनशील होते हैं। तापमान कम हो जाने पर उनके शरीर की रासायनिक प्रक्रियाएं मंद पड़ जाती है और वे शीतनिद्रा (हिबरनेशन) में चले जाते हैं; और तापमान ज़्यादा हो जाने पर उनकी जान खतरे में पड़
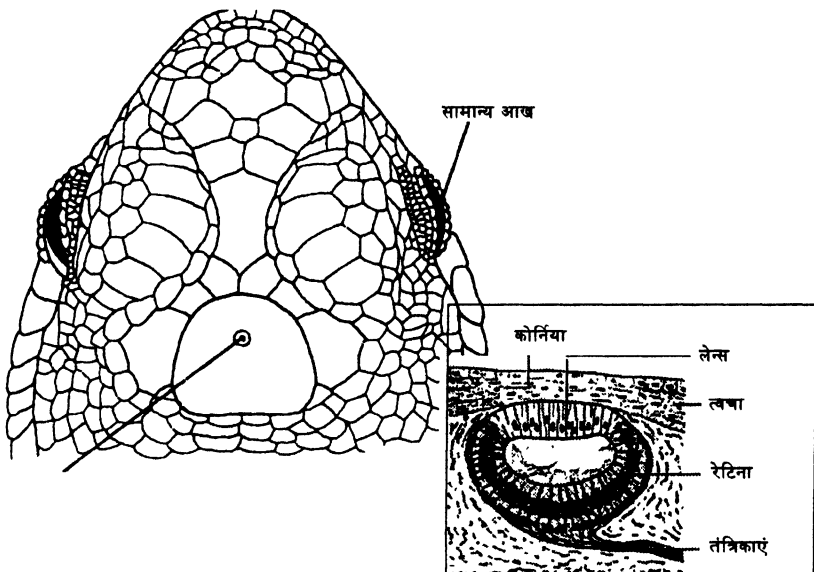
कुछ छिपकलियों के मस्तिष्क में छुपा थर्मामीटर; इस आंख की संरचना (इनसेट में); यह इन जंतुओं में तापमान मापने का काम करती है।

जाती है।

सरीसृपों में तापमान बढ़ाने के कोई अंदरूनी स्रोत शरीर में नहीं होते, शरीर का तापमान नियंत्रित करने के लिए उन्हें पूर्णतः बाहरी स्रोतों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस काम को अंजाम देने में पीनियल ग्रंथी प्रमुख भूमिका निभाती है – शरीर के और बाहर के तापमान पर लगातार नज़र रखकर, जिसके आधार पर ये सरीसृप तय करते हैं कि कब छाया की तलाश करना और कब धूप सेंकना ज़रूरी है उनके लिए।

स्तनधारियों की पीनियल ग्रंथी भी मेलाटोनिन स्रावित करती है परन्तु इसमें प्रकाश संवेदी कोशिकाएं नहीं होतीं, और स्तनधारियों की चमड़ी में रंग बदलने की क्षमता रखने वाली कोशिकाएं (क्रोमेटोफोर) भी नहीं होतीं। तो फिर स्तनधारियों में पीनियल ग्रंथी का क्या काम?

इस दिशा में हुए प्रयोगों से कुछ अंदाज़ लग पाए हैं कि स्तनधारियों में शायद पीनियल ग्रंथी को आंख से आने वाली तंत्रिकाओं के ज़रिए प्रकाश की उपस्थिति की जानकारी मिलती है, जिससे पीनियल ग्रंथी में मेलाटोनिन हार्मोन उत्पादन की दर तय होती है।

मेलाटोनिन की मात्रा स्तनधारियों के शरीर में जनन ग्रंथियों पर नियंत्रण रखकर प्रजनन की प्रक्रियाओं को प्रभावित करती है, खासतौर पर किसी मौसम विशेष के दौरान प्रजनन करने वाले स्तनधारियों में। मनुष्य में शायद यह नियंत्रण किशोरावस्था से वयस्क बनने के रूप में है क्योंकि उस दौरान मेलाटोनिन के उत्पादन की दर एकदम से कम हो जाती है। और उसके पश्चात वयस्क मनुष्य में पीनियल ग्रंथी कैल्शियम के लगातार जमा होने से एक पत्थरनुमा मोती में तब्दील हो जाती है।

अभी तक जो संकेत मिले हैं उनसे ऐसा लगता है कि स्तनधारियों में भी शायद पीनियल ग्रंथी नियमित दैनिक अंतराल पर घटने वाली अन्य प्रक्रियाओं को भी नियंत्रित करती होगी। पीनियल ग्रंथी में उत्पन्न होने वाले हार्मोन मेलाटोनिन, सोरोटोनिन और कुछ अन्य रसायन एक तरह से जैविक घड़ियों का काम करते हैं जो कुछ हद तक बाहरी वातावरण से मिलने वाले संकेतों पर निर्भर हैं और कई मायनों में स्वतंत्र घड़ी की तरह हैं जो बाहरी संकेतों से अनभिज्ञ अपना समय का मापना जारी रखती हैं। परन्तु इस विषय पर अभी और शोध की आवश्यकता है इससे पहले कि कुछ पक्के तौर पर कहा जा सके।

तो यह है आज की स्थिति – पीनियल ग्रंथी प्राणियों के विभिन्न समूहों में बहुत ही अलग-अलग तरह के कामों को सरंजाम देती है। परन्तु यह भी है कि बहुतेरे समूहों में वह प्रकाश के प्रति संवेदनशील है और कुछेक में उसकी रचना आंख से काफी मिलती-जुलती भी है। यह सब देखते हुए इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि लाखों-करोड़ों साल पहले कुछेक प्राणियों में पीनियल ग्रंथी एक 'तीसरी आंख' के रूप में मौजूद रही हो, देखने के लिए इस्तेमाल होने वाली तीसरी आंख।

(सहयोग – विपुल किर्ती, चेतना खरे)

धरती के चुंबक का असर?

✍ अजय शर्मा

पृथ्वी का चुंबकत्व शायद जीवन के लिए एक रक्षा कवच भी है तो कई प्रवासी जीवों को मार्गदर्शन में भी मदद करता है। लेकिन कई सवाल हैं जिनके जवाब या तो नहीं हैं या फिर अधूरे हैं।

चुंबक से खेलने और उससे तरह-तरह के प्रयोग करने में बच्चों को मज़ा आता है। इसके बारे में तकरीबन सभी स्कूल में पढ़ते हैं कि चुंबकीय पदार्थ अपने इर्द-गिर्द एक चुंबकीय बल क्षेत्र की रचना करते हैं, जिसके माध्यम से वह अन्य चुंबकीय पदार्थों और लोहे से बनी चीज़ों को प्रभावित करते हैं। पर क्या जीव-जंतु भी चुंबकीय बल के प्रति संवेदनशील होते हैं? क्या हम भी चुंबकीय बल से प्रभावित होते हैं या हो सकते हैं?

इस तरह के पेचीदा सवालों पर मेरा ध्यान तब आकर्षित हुआ जब मैंने अपने मित्र को मेगनेटो-थेरेपी के तहत चुंबकों की मदद से अपने एक रोग का इलाज करते पाया। जवाब तलाशने निकला तो समझ में आया कि मामला काफी उलझा हुआ है, पर है बेहद दिलचस्प। बहुत-से वैज्ञानिक भी एक लंबे समय से इन प्रश्नों के संतोषप्रद जवाब खोजने में जुटे हुए हैं। इनके प्रयास से एक धुंधली-सी तस्वीर ज़रूर उभरी है। इस तस्वीर की मुख्य आकृतियां कैसा रूप ले रही हैं, आइए इस लेख में समझें।

इतिहास में चुंबकीय दिक्सूचक का सबसे शुरुआती वर्णन ग्यारहवीं सदी में देखने को मिलता है। चीन के नाविकों द्वारा उपयोग में लाए जाने वाले एक दिक्सूचक का उल्लेख है उसमें। पर ऐसा समझा जाता है कि चीन के लोग, छठवीं सदी के पहले ही यह जान गए थे कि स्वतंत्रता से घूम-फिर सकने

वाला एक चुंबक हमेशा एक खास दिशा (लगभग उत्तर-दक्षिण) में ही रुकता है। लेकिन ऐसा क्यों होता है, यह सोलहवीं सदी के अंत तक एक रहस्य था। इस सवाल का जवाब तब मिला जब विलियम गिलबर्ट ने, सन 1600 में पहली बार यह सुझाया – ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पृथ्वी खुद एक विशालकाय चुंबक है। पृथ्वी के चुंबकीय गुणों के महत्व को मद्देनज़र रखते हुए तब से इनका बारीकी से अध्ययन किया गया है। और आज हम जानते हैं कि हमारी धरती का चुंबकीय क्षेत्र किस तरह समस्त जीवन को अपने में समेटे हुए है – चाहे वह जल में मौजूद हो, सतह पर हो या वायुमंडल में। प्रभाव की दृष्टि से भी चिरकाल से यही चुंबकीय बल सबसे अधिक महत्वपूर्ण रहा है। अतः जीव-जन्तुओं की चुंबकीय संवेदनशीलता या उन पर पड़ने वाले चुंबकीय प्रभावों की चर्चा करते वक्त हमारा प्रमुख केन्द्र बिन्दु पृथ्वी का चुंबकीय बल ही होगा।

इसलिए जीव-जगत की बात शुरू करें उससे पहले यह ज़रूरी हो जाता है कि एक सरसरी नज़र पृथ्वी के चुंबकत्व पर भी डाल ली जाए।

पृथ्वी - एक चुंबक

सबसे पहला प्रश्न तो शायद यही होगा कि आखिर पृथ्वी में चुंबकत्व क्यों है? सवाल सरल है। पर जैसा कि सरल सवालों के साथ अक्सर होता है जवाब अपूर्ण और असंतोषप्रद ही नज़र आते हैं। भूगर्भशास्त्रियों के बीच इस विषय को लेकर कोई एक सर्वमान्य समझ तो नहीं उभर पाई है; हां, पर इस बात पर सभी एकमत हैं कि इस चुंबकत्व की उत्पत्ति पृथ्वी की लौह संपन्न द्रवीय बाहरी कोर* (Outer Core) में बह रही विद्युत धाराओं की वजह से ही होती है।**

मोटे तौर पर समझा जाए तो पृथ्वी का चुंबकीय बल एक भीमकाय छड़ चुंबक सरीखा है। 'भौगोलिक उत्तर-दक्षिण ध्रुवों' के अतिरिक्त पृथ्वी में एक और जोड़ी ध्रुव 'उत्तर और दक्षिण चुंबकीय ध्रुव' मौजूद हैं।

अब जैसा कि सर्वविदित है, एक लटकाए हुए चुंबक (या चुंबकीय सुई) का उत्तरी ध्रुव उत्तर दिशा में रुकता है। इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी का चुंबकीय दक्षिण ध्रुव दक्षिण में न होकर, भौगौलिक उत्तरी ध्रुव के समीप है; और चुंबकीय उत्तरी ध्रुव भौगौलिक

---

* पृथ्वी का अंदरुनी भाग; यह करीब 2885 किलोमीटर से लेकर 4720 किलोमीटर की गहराई तक फैला हुआ है।

** जैसा कि ओरेस्ट ने अपने प्रयोगों के द्वारा सबसे पहले सिद्ध किया था – हरेक विद्युतधारा अपने इर्द-गिर्द एक चुंबकीय क्षेत्र को जन्म देती है।
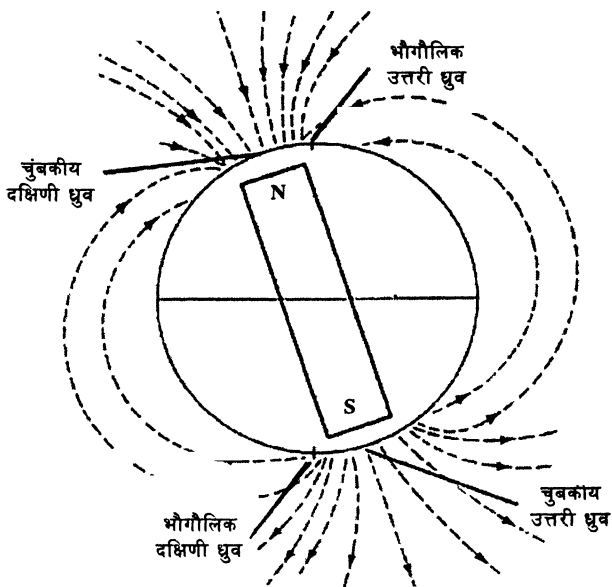
चित्र-1 : पृथ्वी का चुंबक: चित्र में पृथ्वी के चुंबकीय और भौगौलिक ध्रुवों की स्थितिदिखाई गई है। चुंबकीय ध्रुव, भौगौलिक ध्रुवों से दूर स्थित हैं। साथ ही भौगौलिक उत्तरी ध्रुव की तरफ पृथ्वी का चुंबकीय दक्षिणी ध्रुव और भौगौलिक दक्षिणी ध्रुव की तरफ चुंबकीय उत्तरी ध्रुव स्थित है।

दक्षिण ध्रुव के पास है।*

है न, यह थोड़ी दिलचस्प बात। पर ऐसा भी नहीं है कि चुंबकीय ध्रुव अपने से विपरीत भौगोलिक ध्रुवों के ठीक ऊपर या आसपास हैं।

चुंबकीय दक्षिण ध्रुव भौगोलिक उत्तरी ध्रुव से दूर उत्तरी कनाडा में (76.1^{0}N, 100^{0}w) पड़ता है। चुंबकीय उत्तरी ध्रुव तो भौगोलिक दक्षिण ध्रुव से और भी अधिक दूर अंटार्कटिका (65.8^{0}S, 139^{0}E) में मौजूद है। यही कारण है कि दिकसूचक एकदम उत्तर दिशा कभी नहीं दिखाता। माजरा क्या है, चित्र-1 देखकर स्पष्ट हो जाएगा।

पृथ्वी का चुंबकीय बल सतह पर तो विद्यमान है ही, यह आकाश में भी काफी दूर तक फैला हुआ है। इसके

* असमान चुंबकीय ध्रुव एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और समान चुंबकीय ध्रुव एक-दूसरे को परे ढकेलने की कोशिश करते हैं।
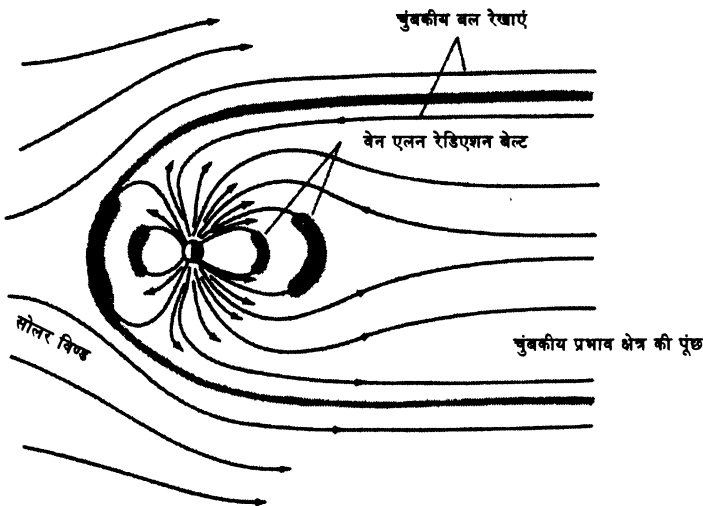
चित्र-2: सोलर विण्ड का प्रभाव और वेन एलन रेडिएशन बेल्ट: सूर्य से निकलती सोलर विण्ड पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र को एक तरफ से दबा देती हैं। जबकि दूसरी तरफ ये चुंबकीय बल रेखाएं काफी दूरी तक फैली होती हैं। इस चुंबकीय क्षेत्र में फंसे आवेशित कण, जिन्हें 'वेन एलन रेडिएशन बेल्ट' कहते हैं।

प्रभाव क्षेत्र को अगर बल रेखाओं के द्वारा दर्शाया जाए तो स्थिति 'चित्र-2' के अनुरूप उभरती है। जैसा कि इस चित्र में आपने गौर किया होगा, उस अर्धगोलार्द्ध (Hemisphere) की तरफ जहां दिन है, चुंबकीय बल एक सीमित क्षेत्र में ही सिमट गया है, जबकि दूसरी तरफ यह पृथ्वी के व्यास* से हज़ारों गुना लंबी दूरी तक फैला हुआ है। यह विरूपता (Deformation) हमारे सूर्य की देन है।

दरअसल, सूरज से हमें केवल प्रकाश और गर्मी ही प्राप्त नहीं होती बल्कि खासी मात्रा में तीव्र गतिधारी आवेशित कणों (इलेक्ट्रॉन और प्रोटॉन) की धाराएं भी निकलकर पृथ्वी तक पहुंचती रहती हैं। इन धाराओं को सोलर विंड (Solar Wind) कहा जाता है। सोलर विंड जब पृथ्वी के समीप पहुंचती है तो उसके चुंबकीय क्षेत्र पर एक तरह का 'दबाव' डालती है। इस 'दबाव' के कारण ही यह चुंबकीय क्षेत्र एक तरफ से दब जाता है।

सोलर विण्ड के अतिरिक्त अंतरिक्ष से (दरअसल हमारे सौर मंडल से भी दूर से) एक और किस्म के आवेशित

* पृथ्वी का व्यास = 12,756 कि.मी. है।

कण (मुख्यतः प्रोटॉन) हमारी धरती पर अविरत बरसते रहते हैं। इन कणों को कॉस्मिक किरणें (Cosmic rays) कहा जाता है। ये किरणें कहां से आती हैं, यह अभी पक्के तौर पर नहीं मालूम। पर हम खुशनसीब हैं कि, पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र एक कवच की तरह काम करते हुए सोलर विंड और कॉस्मिक किरणों के अधिकांश कणों को धरती से परे धकेल देता है।

हां, कुछ कण ज़रूर इस सुरक्षा कवच को भेद पाने में सफल हो जाते हैं। इनमें से कुछ तो चुंबकीय क्षेत्र के ऊपरी इलाकों में फंस कर 'वेन एलन रेडिएशन बेल्ट' (Van Allen radiation belts) का निर्माण करते हैं। और बाकी हम तक पहुंच कर हमारे शरीर को हर समय भेदते रहते हैं। जी हां, इस प्रहार का भले ही आपको गुमान न हो, पर यह जांची परखी बात है कि अगर आप समुद्र तट पर आराम फरमा रहे हैं तो औसतन एक से तीन कण प्रति वर्ग से.मी. प्रति मिनट की दर से कॉस्मिक किरणें आपके जिस्म से आर-पार हो रही होंगी। जैसे-जैसे भूमध्य रेखा से दूर जाते हैं यह दर बढ़ती जाती है।

यह किरणें हमें किस तरह प्रभावित करती हैं यह तो पता नहीं, पर इस बात की प्रबल संभावना ज़रूर है कि पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र और इन किरणों की परस्पर क्रिया का असर शुरू से ही जैव विकास (Evolution) पर होता आया है। इस असर का प्रमुख कारण चुंबकीय क्षेत्र की दिशा और मात्रा में निरंतर होती घट-बढ़ को माना जाता है (देखें बॉक्स)।

जी हां, पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र स्थिर नहीं है। लाखों वर्षों से इस में निरंतर अनियमित बदलाव होते आए हैं। इन बदलावों के प्रमाण हमें पृथ्वी में (चट्टान की) विभिन्न परतों और समुद्री तल पर मौजूद चट्टानों के चुंबकत्व के अध्ययन से मिले हैं।* यह बदलाव चुंबकीय क्षेत्र की मात्रा और दिशा दोनों में देखने को मिलता है।

अभी तक उपलब्ध प्रमाणों के हिसाब से कई बार ऐसा भी हुआ है कि चुंबकीय क्षेत्र घट कर शून्य हो गया और फिर उल्टी दिशा में बढ़ने लगा। ऐसा अनुमान है कि पिछले पचास लाख सालों में इस तरह की उलट-फेर बीस बार हो चुकी है। आखिरी बड़ी उलट-फेर लगभग सात लाख साल पहले हुई थी। लेकिन करीब 30 हज़ार साल पहले एक छोटी उलटफेर भी रिकॉर्ड की गई है। और लगभग दस लाख वर्ष पहले एक समय तो ऐसा भी आया था जब दस-बीस हज़ार साल के लिए पृथ्वी का चुंबकीय

---

* देखिए संदर्भ के 14 वें अंक में प्रकाशित लेख 'नया बनता समुद्र और खिसकते महाद्वीप'

चुंबकत्व और जैव विकास

कई वैज्ञानिक ऐसा मानते हैं कि पृथ्वी के चुंबकीय बल में होते आए बदलावों ने जैव विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उनके हिसाब से पृथ्वी पर जीवन के शुरुआती दिनों में चुंबकीय बल ने कॉस्मिक किरणों और सोलर विण्ड के कणों को पृथ्वी के बाहर ही रोक कर पनपते जीवन को नष्ट होने से बचाए रखा। तब से अब तक हमारी धरती कई ऐसे दौरों से गुज़र चुकी है जब उसका चुंबकीय बल लगभग गायब ही हो गया था। तब इस सुरक्षा कवच के न रहने से पृथ्वी तक पहुंचने वाले आवेशित कणों की मात्रा बेतहाशा बढ़ गई। ऐसा समझा जाता है कि उस समय इन कणों के प्रहार से जीवों में गुणसूत्रों की व्यवस्था में गड़बड़ी (Mutation) की दर काफी तेज़ हो गई, जिससे जीव जंतुओं की प्रजातियो में कई बदलाव आए।

क्षेत्र लगभग लुप्त ही हो गया था।

इस तरह के बदलाव शुरू से ही इतनी बेतरतीबी और अनियमितता से होते देखे गए हैं कि यह अंदाज़ लगा पाना मुश्किल है कि अगली उलट-फेर कब होगी। पर जिस दर से पृथ्वी का चुंबकीय बल घट रहा है (करीब पांच प्रतिशत प्रति सौ साल) वह अगर कायम रहा तो आगामी दो हज़ार सालों के अंदर आप चुंबकीय बल में एक और उलट-फेर की उम्मीद कर सकते हैं।

पर घबराइए नहीं यह ज़रूरी नहीं कि ऐसा हो ही । दर असल यह पूरा मसला बेहद पेचीदा है। भूगर्भ-शास्त्री तो अभी तक यह ही समझ नहीं पाए हैं कि चुंबकीय बल में यह बदलाव आखिर आते क्यों हैं।

चूंकि हम पृथ्वी की तुलना एक विशालकाय छड़ चुंबक से कर रहे हैं, मुमकिन है आप इस चुंबकीय बल को काफी प्रबल मान बैठें। पर आपको यह जान कर शायद आश्चर्य हो कि प्रयोगशालाओं में उपयोग में आए जाने वाले आम चुंबकों की तुलना में यह चुंबकीय बल काफी कमज़ोर है। पर फिर भी जीवन इस बल के प्रति संवेदनशील है, इससे प्रभावित है। कैसे, आइए समझें।

पृथ्वी के चुंबक का इस्तेमाल

जीवों में पृथ्वी के चुंबकीय बल के प्रति संवेदनशीलता का सबसे सरल, सीधा और अहम उदाहरण (प्रक्रिया और अवलोकन के हिसाब से) मैग्नेटो-टेक्टिक (Magnetotactic) जीवाणुओं में

देखने को मिलता है।

इन जीवाणुओं में एक ऐसा चुंबकीय मार्गदर्शन यंत्र पाया जाता है जिसका उपयोग यह जीव हलन-चलन में करते हैं। यह तंत्र, पृथ्वी के चुंबकीय बल की मदद लेते हुए, इन जीवाणुओं को चलने के लिए सही दिशा की ओर उन्मुख करता है। अब इसे आप शायद जैव-विकास की अद्‌भुत जटिलता की एक और मिसाल ही कहेंगे कि जहां पृथ्वी के चुंबकत्व का इस तरह उपयोग करने का मानव इतिहास मात्र एक हज़ार साल ही पुराना है, वहीं दूसरी ओर मेग्नेटोटेक्टिक बेक्टीरिया जैसे सरलतम जीव ने यह महारत अरबों साल पहले ही हासिल कर ली थी।

मैग्नेटोटेक्टिक जीवाणु उन जीवाणुओं की जमात में आते हैं जिन्हें श्वसन करने के लिए ऑक्सीजन गैस की ज़रूरत नहीं पड़ती। उल्टे ऑक्सीजन तो इनके लिए एक विष के समान होती है। इसलिए यह जीवाणु ऐसी जगहों पर ही रहना पसंद करते हैं जहां ऑक्सीजन न हो (या बहुत ही कम मात्रा में हो), जैसे तालाबों और दलदलों के तल में जहां का पानी रुका रहता है।

इन जीवाणुओं की सर्वप्रथम खोज, जो कि महज एक संयोग थी, ऐसे ही एक तालाब के तल की कीचड़ में हुई थी। यह बात सन 1975 की है। और इस खोज का श्रेय जाता है रिचर्ड ब्लेकमोर को, जो दरअसल उस समय किसी और ही चीज़ पर अपनी पी. एच. डी. पूरी करने में जुटे हुए थे। किस तरह तुक्के से यह खोज हो गई, यह अपने आप में काफी दिलचस्प वाकया है। पर उसका यहां वर्णन शायद अपने संदर्भ से परे होगा। इसलिए फिलहाल हम मेग्नेटोटेक्टिक जीवाणुओं की चुंबकीय संवेदनशीलता पर ही चर्चा को आगे बढ़ाते हैं।

दरअसल ये जीवाणु अपने संचलन (Movement) के लिए पृथ्वी के चुंबकीय बल का उपयोग एक बड़ी ही सरल प्रक्रिया के द्वारा करते हैं। इनमें मैगनेटाइट या लोडस्टोन नाम के प्राकृतिक चुंबकीय पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़े (एक से ज़्यादा) श्रृंखलाओं में कतारबद्ध जमे हुए पाए जाते हैं। पृथ्वी का चुंबकीय क्षेत्र इन पत्थरों पर चुंबकीय बल लगाता है। पृथ्वी की भूमध्य रेखा के आसपास के इलाकों में पाए जाने वाले मैगनेटोटेक्टिक जीवाणुओं को छोड़कर, अन्य सभी जगहों के जीवाणुओं पर यह बल हमेशा नीचे की ओर लगता है। बल के नीचे की ओर लगने के कारण इन जीवाणुओं को तालाबों के तलों तक पहुंचने में काफी मदद मिलती है। अब चूंकि पृथ्वी के उत्तरी और दक्षिणी गोलार्द्धों में पृथ्वी के चुंबकीय बल की दिशा विपरीत होती है, इसलिए यह देखा

गया है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में पाए जाने वाले जीवाणुओं के चुंबकीय पत्थरों के ध्रुव भी उत्तरी गोलार्द्ध में पाए जाने वाले जीवाणुओं के ध्रुवों के विपरीत होते हैं।

वैसे, जीवाणुओं में पत्थरों के टुकड़ों का पाया जाना कोई खास बात नहीं है। गुण तो है इन टुकड़ों का चुंबकीय होना।

आपको यह जानकर शायद थोड़ा अचरज हो कि कीचड़ में पाए जाने वाले अधिकांश जीवाणुओं के अग्रिम हिस्सों में ठोस क्रिस्टल्स (Crystals) पाए जाते हैं। इन टुकड़ों के वज़न की वजह से इन जीवाणुओं का अगला सिरा नीचे की ओर उन्मुख हो जाता है। इससे इनको तालाबों के तल की ओर तैरने में सुगमता हो जाती है। चूंकि मैगनेटाइट पत्थर जीवों द्वारा प्राकृतिक रूप से बनाया गया सबसे भारी पदार्थ है, इसलिए मात्र वज़न की तरह से भी यह पत्थर इन जीवाणुओं के लिए काफी उपयुक्त रहता। इन पत्थरों का चुंबकीय गुण, मैगनेटोटेक्टिक जीवाणुओं के संचलन को अधिक सफल और आसान

मेगनेटोटेक्टिक बैक्टीरिया: जीवाणु के बीच में दिख रहे काले-काले धब्बे मेगनेटाइट क्रिस्टल की जमी हुई पंक्ति है। यह क्रिस्टल इस बैक्टीरिया को पृथ्वी के चुंबकीय क्षेत्र के सापेक्ष मुड़ने में मदद करता है।

बना देता है।* है न यह सोने पर सुहागे वाली एक मिसाल।

जीव वैज्ञानिकों ने इन जीवाणुओं के अलावा कई और ऐसे जीव-जन्तुओं का पता लगाया है जिनमें पृथ्वी के चुंबकीय बल के प्रति संवेदनशीलता होती है। इनमें, शोध की दृष्टि से कुछ प्रवासी पक्षी और अपना ठौर ढूंढ लेने वाले कबूतर (Homing Pigeons) प्रमुख हैं।

इस कबूतर की खासियत यह है कि अगर उन्हें उनके निवास स्थल से सैंकड़ों किलोमीटर दूर छोड़ दिया जाए, तो वे किसी प्रकार से अपने घर वापस पहुंच जाते हैं। वैज्ञानिकों के लिए शोध का विशेष मुद्दा रहा है कि यह परिन्दे आखिर किन दिशा-सूचक चिन्हों की मदद से और किस मार्गदर्शन प्रक्रिया को अपना कर अपना घर पुनः ढूंढ पाते हैं। प्रक्रिया के बारे में तो फिलहाल कोई स्पष्टता नहीं है। पर शोध के परिणामों से ऐसा ज़रूर प्रतीत होता है कि ये कबूतर अपना रास्ता ढूंढने के लिए कई सारे दिशा-सूचक चिन्हों और व्यवस्थाओं का सहारा लेते हैं। पृथ्वी का चुंबकीय बल उनमें से एक है।

अमेरिका के प्रिंसटन विश्व विद्यालय के गोल्ड और वॉलकॉट द्वारा प्रतिपादित संकल्पना के अनुसार कबूतरों में किसी जगह पर पृथ्वी के चुंबकीय बल की मात्रा को आंक सकने की क्षमता होती है।

चूंकि यह चुंबकीय बल अक्षांश के साथ घटता-बढ़ता है, इसलिए इस क्षमता के आधार पर कबूतरों को कम-से-कम किसी जगह के अक्षांश का पता तो लग ही जाता है। इस संकल्पना की पुष्टि में कई प्रमाण मिले हैं कि पृथ्वी के चुंबकीय बल में छोटे-मोटे बदलाव से भी कबूतरों की अपने घर तक पहुंचने की क्षमता प्रभावित हो जाती है।**

प्रवासी पक्षियों के अलावा कई और जीव-जंतु जैसे मधुमक्खी, ट्यूना और सॅमन मछलियां आदि पृथ्वी के चुंबकीय बल के प्रति संवेदनशील पाई जाती हैं। ऐसा भी माना जाता है कि शार्क और अधिकांश रे (Ray) मछलियां अपनी विद्युतीय संवेदनशीलता का उपयोग चुंबकीय बल की दिशा का पता लगाने में भी करती हैं। इन सभी जीवों की चुंबकीय संवेदनशीलता का आधार क्या है, यह तो अभी तक ठीक से मालूम नहीं पड़ सका है। पर इतना ज़रूर है कि इन सभी जीवों में, तंत्रिका तंत्र से जुड़े हुए मेगनेटाइट

---

* ऐसे प्रमाण मिले हैं कि कवक (Algae) की कुछ प्रजातियां (कम से कम एक ज़रूर) भी मैगनेटाइट का इस तरह उपयोग करती है।

*देखिए संदर्भ के 12 वें अंक में प्रकाशित लेख 'हम मुसाफिर दुनिया के'।

पत्थर के बारीक टुकड़े पाए गए हैं।

अब जहां तक हम इंसानों का सवाल है, प्राप्त जानकारी के आधार पर तो यही प्रतीत होता है कि इंसान इस क्षमता से वंचित है। पर जैसा कि आपको आभास हो चला होगा, चुंबकीय संवेदनशीलता को लेकर हमारी समझ अभी आधी-अधूरी ही है।

इस विषय पर शोध से नित नए आश्चर्यजनक तथ्य उभर कर आ रहे हैं। मिसाल के तौर पर, गत वर्ष घोंघों (Snails) पर शोध के आधार पर कनाडा के कुछ वैज्ञानिकों ने यह दावा किया था कि दर्द से पीड़ित जीव-जंतुओं को अगर एक खास किस्म के चुंबकीय क्षेत्र में रखकर दर्द निवारक दवा दी जाए तो उन्हें ज़्यादा आराम मिलेगा।

इस बात के कई प्रमाण मिले हैं कि चुंबकीय बल जानवरों के दिमाग में पाए जाने वाले ओपिओइड (Opioid) नामक रसायनों की रासायनिक क्रियाओं को प्रभावित करता है।* पर इन सभी परिणामों को अभी एक ठोस आधार की ज़रूरत है? तब तक मैगनेटो-थेरेपी के इलाजों को मजबूरन विज्ञान की हद से परे ही रहना होगा।

अजय शर्मा – एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध हैं।

* ओपिओइड प्राकृतिक दर्द निवारक पदार्थ होते हैं।

■■■

सवालीराम ने पूछा सवाल

सवालः चोट लगने पर सूजन क्यों होती है?

सूजन को कभी-न-कभी तो शायद हम सबने सहा होगा। वैसे हो सकता है कि आपने इसके कारणों पर भी गौर किया हो, तो लिख भेजिए हमें अपने जवाब इस पते पर – संदर्भ, द्वारा एकलव्य, कोठी बाज़ार, होशंगाबाद, म. प्र., 461 001.

आवर्त्त सारणी का इस्तेमाल

सुशील जोशी

आवर्त्त सारणी न सिर्फ तत्वों को सिलसिलेवार जमाने में मदद करती है बल्कि इसकी वजह से कई तत्वों के बारे में खोज से पहले ही भविष्यवाणियां करना संभव हो पाया।

अगर इसे पढ़ने का तरीका समझ लिया जाए तो रसायन विज्ञान की कई गुत्थियां काफी सरल हो जाती हैं।

आवर्त्त सारणी का विकास रसायन शास्त्र की सबसे महत्व पूर्ण घटनाओं में से एक है। आवर्त्त सारणी ने रसायन शास्त्र का अध्ययन करने वालों को एक ऐसा औज़ार दिया है जिसकी मदद से वे ढेरों जानकारियों को करीने से रख सकते हैं, और फिर उन्हें आसानी से प्राप्त भी कर सकते हैं। सबसे बड़ी बात तो यह रही कि इस 'करीने' की बदौलत हम तत्वों के संबंध में भविष्यवाणियां करने में भी सफल रहे। संक्षेप में कहा जाए तो यह सारणी रसायनशास्त्रियों के लिए एक बड़ी सहूलियत है।

परन्तु क्या रसायन शास्त्र के छात्र व अध्यापक इस सारणी से प्राप्त सुविधा से लाभ उठा पाते हैं या उनके लिए यह 'कोर्स' का एक अध्याय मात्र है जिसे याद किया जाना है? क्या वे इसे एक सुविधा के रूप में देखते हैं या एक बोझ के रूप में?

आवर्त्त सारणी से हमारा तात्पर्य आधुनिक आवर्त्त सारणी से है जो निम्नलिखित सिद्धांत पर आधारित है: "तत्वों के गुण उनकी परमाणु संख्या की आवर्त्त अभिव्यक्ति हैं।" अर्थात अगर परमाणु संख्या के क्रम में आगे बढ़ते जाएं तो तत्वों के गुण एक विशेष क्रम में दोहराए जाते हैं। यहां मैं यह

मानकर चल रहा हूं कि पाठक आवर्त्त सारणी से परिचित हैं। आवर्त्त सारणी के कुछ चित्र इस लेख के साथ दिए गए हैं। इस सारणी में खड़ी पंक्तियां 'समूह' (Group) कहलाती हैं और आड़ी पंक्तियां 'आवर्त्त' (Period) कहलाती हैं।

आवर्त्त

जैसा कि आप जानते हैं इस सारणी में कुल सात आवर्त्त हैं। प्रत्येक आवर्त्त में तत्वों की संख्या अलग-अलग है। पहले आवर्त्त में 2 तत्व हैं, दूसरे व तीसरे आवर्त्त में 8-8 तत्व हैं, चौथे व पांचवें आवर्त्त में 18-18 तत्व हैं, छठे आवर्त्त में 32 और सातवें आवर्त्त में 23 तत्व हैं। इससे साफ ज़ाहिर है कि तत्वों के गुणों में आवर्त्तता तो है मगर उसका कोई निश्चित अंतराल नहीं है। इसका क्या कारण हो सकता है?

आप संभवतः जानते ही होंगे कि किसी भी तत्व के बुनियादी रासायनिक गुण मूलतः उसकी इलेक्ट्रॉन जमावट (Configuration) पर निर्भर होते हैं। इसमें भी सबसे अहम भूमिका बाह्यतम इलेक्ट्रॉन विन्यास की होती है। कहने का मतलब यह है कि यदि दो तत्वों में बाह्यतम इलेक्ट्रॉन व्यवस्था समान है तो उनके रासायनिक गुणों में भी समानता होगी। अब किसी आवर्त्त की लम्बाई इस बात पर निर्भर है कि कितने तत्वों के बाद एक मर्तबा फिर वही बाह्यतम इलेक्ट्रॉन व्यवस्था दोहराई जाती है।

दरअसल प्रत्येक आवर्त्त में मौजूद तत्वों की संख्या हमें बता देती है कि उस आवर्त्त में बाएं से दाएं चलते इलेक्ट्रॉन व्यवस्था में क्या हो रहे हैं। आप शायद जानते होंगे कि परमाणु में इलेक्ट्रॉनों की जमावट अलग-अलग कक्षकों में होती है। प्रत्येक कक्षक की ऊर्जा व उसमें पाए जा सकने वाले इलेक्ट्रॉनों की अधिकतम संख्या तयशुदा होती है। सारणी-1 एवं 2 को ध्यान से देखिए। इनमें विभिन्न आवर्त्तों में तत्वों की संख्या और उनके परमाणुओं से भरे जा रहे कक्षकों से संबंधित जानकारी दी गई है। क्या आप अब समझ सकते हैं कि क्यों अलग-अलग आवर्त्त अलग-अलग लम्बाई के हैं।

समूह

आवर्त्तों की पुनरावृत्ति ही समूह बनाती है। यानी किसी भी तत्व से शुरू करें, एक आवर्त्त पूरा होने के बाद जो तत्व आएगा वह पहले वाले तत्व के समान होगा। इस प्रकार से एक ही समूह के तत्वों में बुनियादी समानताएं होती हैं। व्यावहारिक दृष्टि से दरअसल समूह ही ज़्यादा उपयोगी हैं। आवर्त्त सारणी में कुल 18 समूह हैं। इन्हें दर्शाने की प्रायः दो प्रथाएं प्रचलित हैं।

उपहार

अगर आपके किसी अन्य साथी/संस्था की संदर्भ के बारे में
है तो उनका पता यहां लिख दीजिए। 'संदर्भ' की एक उपहा
उन्हें तुरन्त भेजी जाएगी ताकि वे चाहें तो उसे देखकर
'संदर्भ' का वार्षिक सदस्य बन सकते हैं।

नाम ....

पता ....

....

....

पिन ....

सारणी-1

ऊर्जा क्रम में कक्षक	अधिकतम इलेक्ट्रॉन
1 s	2
2 s	2
2 p	6
3 s	2
3 p	6
4 s	2
3 d	10
4 p	6
5 s	2
4 d	10
5 p	6
6 s	2
4 f	14
5 d	10
6 p	6
7 s	2
5 f	14
6 d	10

सारणी-1 : प्रत्येक कक्षक की ऊर्जा व उसमें पाए जा सकने वाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या तयशुदा होती है। इस सारणी में ऊपर से नीचे की ओर बढ़ती ऊर्जा के क्रम में कक्षकों को जमाया गया है और प्रत्येक कक्षक में पाए जा सकने वाले इलेक्ट्रॉनों की अधिकतम संख्या दर्शाई गई है।

सारणी-2 : विभिन्न आवर्त्तों में तत्वों की संख्या और उनके परमाणुओं से भरे जा रहे कक्षक।

सारणी-2

आवर्त्त	तत्वों की संख्या	कौन से कक्षक भर जाने पर आवर्त्त पूरा होगा	कुल इलेक्ट्रॉन
1	2	1s	2
2	8	2s 2p	8
3	8	3s 3p	8
4	18	4s 3d 4p	18
5	18	5s 4d 5p	18
6	32	6s 4f 5d 6p	32
7	अब तक 23	7s 5f 6d वगैरह	32

एक प्रथा है जिसमें कुल आठ समूह हैं – I से VIII; इन समूहों को A व B उपसमूहों में बांटा गया है तथा VIII B उपसमूह में तीन उप-उपसमूह हैं। यह विभाजन वैसे तो काफी अकारण है। मसलन समूह VIII A में तो अक्रिय गैसें हैं और VIII B में लौह, तांबा, निकल जैसी संक्रमण धातुएं (Transition Metals) हैं। बाद में समूह VIII A को शून्य समूह भी कहा गया।

आवर्त्त सारणी की I से VIII समूह वाली इस व्यवस्था से काफी परेशानियां हो रही थीं, क्योंकि एक ओर पारम्परिक रूप से उत्तरी अमेरिका व रूस के वैज्ञानिक मुख्य समूह के तत्वों को A उपसमूहों में रखते थे और संक्रमण तत्वों (Transition Elements) को B उपसमूहों में। जबकि दूसरी ओर यूरोप के वैज्ञानिक बहुधा बाईं ओर के सात समूहों को A तथा दाईं ओर के (अक्रिय गैस समूहों को छोड़कर) सात समूहों को B कहते थे। इस वजह से कई भ्रम उत्पन्न हो जाते थे। अन्ततः 'शुद्ध व प्रयुक्त रसायन संबंधी अंतर्राष्ट्रीय संघ' (IUPAC) ने फैसला किया कि समूहों को बाएं से दाएं क्रमशः 1 से 18 कहा जाएगा। यही दूसरी प्रथा है। एक ही समूह के तत्वों में समानता होती है। यह बात आप सारणी से देख सकते हैं।

आवर्त्त सारणी में समूहों के तत्वों के गुणों में क्रमिक परिवर्तनों से तो आप परिचित हैं ही।

ब्लॉक्स

ऊपर हमने देखा कि तत्वों के परमाणुओं के निर्माण में क्रमशः इलेक्ट्रॉन जुड़ते जाते हैं। ऊर्जा क्रम के मुताबिक ये इलेक्ट्रॉन विभिन्न कक्षकों में भरे जाते हैं। तत्वों के वर्गीकरण का एक आधार यह भी हो सकता है कि किसी तत्व या तत्वों के समूह में कौन-सा कक्षक भरने की प्रक्रिया चल रही है। ऐसा करने पर तत्वों के मूलतः चार समूह बनते हैं। ये समूह ब्लॉक्स कहलाते हैं। ये ब्लॉक्स हैं – s ब्लॉक, p ब्लॉक, d ब्लॉक, और f ब्लॉक।

इस प्रकार के विश्लेषण से एक व्यावहारिक लाभ यह मिलता है कि हम तत्वों का इलेक्ट्रॉन विन्यास ज्ञात कर सकते हैं। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी।

मसलन समूह 14 के दूसरे आवर्त्त के तत्व की इलेक्ट्रॉन संरचना ज्ञात करते हैं। सबसे पहली बात तो यह है कि समूह क्रमांक 13 से ज़्यादा है। सारणी-3 देखने पर पता चलता है कि यह p ब्लॉक का तत्व है। उसी सारणी से यह भी जानकारी मिलती है कि इसके समूह क्रमांक में से 10 घटाने पर हमें बाह्यतम कक्षक में इलेक्ट्रॉनों की संख्या प्राप्त हो जाएगी।

सारणी: 3

ब्लॉक	इलेक्ट्रॉन संरचना	समूह	विशेष
s ब्लॉक	ns^{1-2}	1-2	बाह्यतम कक्षक में इलेक्ट्रॉनों की संख्या ही समूह क्रमांक होता है।
p ब्लॉक	ns^2np^{1-6}	13-18	बाह्यतम 's' और 'p' कक्षकों में इलेक्ट्रानों की संख्या में 10 जोड़ें तो समूह क्रमांक मिलता है।
d ब्लॉक	$n\text{-}1d^{0-10}ns^{1-2}$	3-12	ns व (n-1)d कक्षकों में इलेक्ट्रॉनों की संख्या का योग समूह क्रमांक दर्शाता है।
f ब्लॉक	–		

इस तालिका में n का मतलब बाह्यतम कक्षक से है और n-1 बाहरी से एक अन्दर वाला कक्षक है।

यह हुई 14-10 = 4; इन 4 में से दो इलेक्ट्रॉन तो गए s उपकक्षक में और शेष दो गए p उपकक्षक में।

यानी इसकी इलेक्ट्रॉनिक संरचना हुई : ns^2np^2 यह इसकी बाह्यतम इलेक्ट्रॉन संरचना है। आमतौर पर रासायनिक दृष्टि से यह जानकारी काफी महत्वपूर्ण होती है।

अब कुछ अभ्यास आपके लिए। इन्हें हल करने के लिए आपको तीनों सारणियों को गौर से देखना होगा।
(ध्यान रखें ये अभ्यास करने के लिए आवर्त्त सारणी न देखें।)

1. समूह 17 के तीसरे तत्व की बाह्यतम इलेक्ट्रॉन संरचना पता कीजिए।

2. यदि किसी तत्व की इलेक्ट्रॉन संरचना [Ar] $3d^{10}4s^2 4p^3$ है, तो इस तत्व का आवर्त्त सारणी में स्थान पता कीजिए:

यहां [Ar] का अर्थ है कि इस तत्व की अन्दरुनी इलेक्ट्रॉन संरचना आर्गन जैसी है।

3. एक तत्व की इलेक्ट्रॉन संरचना [Kr] $4d^5 5s^1$ है। पता लगाइए कि यह तत्व किस समूह व किस आवर्त्त में होगा।

4. समूह 1, आवर्त्त 3 के तत्व की इलेक्ट्रॉन संरचना पता कीजिए।

'पी' ब्लॉक के तत्व

'डी' ब्लॉक के तत्व

समूह 10	समूह 11	समूह 12	समूह 13	समूह 14	समूह 15	समूह 16	समूह 17	समूह 18
			13 Al Aluminum 26.981 54 [Ne]$3s^2 3p^1$					
			31 Ga Gallium 69.72 [Ar]$3d^{10} 4s^2 4p^1$	32 Ge Germanium 72.59 [Ar]$3d^{10} 4s^2 4p^2$				
			49 In Indium 114.82 [Kr]$4d^{10} 5s^2 5p^1$	50 Sn Tin 118.71 [Kr]$4d^{10} 5s^2 5p^2$	51 Sb Antimony 121.75 [Kr]$4d^{10} 5s^2 5p^3$			
			81 Tl Thallium 204.383 [Xe]$4f^{14} 5d^{10} 6s^2 6p^1$	82 Pb Lead 207.2 [Xe]$4f^{14} 5d^{10} 6s^2 6p^2$	83 Bi Bismuth 208.980 [Xe]$4f^{14} 5d^{10} 6s^2 6p^3$	84 Po Polonium (209) [Xe]$4f^{14} 5d^{10} 6s^2 6p^4$		Rn Radon

'एफ' ब्लॉक के तत्व

गुणों में क्रमिक परिवर्तन

यदि क्रमशः कक्षकों के भरने की बात को ध्यान में रखा जाए, तो तत्वों के भौतिक व रासायनिक गुणों में होने वाले क्रमिक परिवर्तन को समझना संभव हो जाता है। यहां हम एक उदाहरण से इसे समझने की कोशिश करेंगे।

परमाणुओं के अर्धव्यास (त्रिज्या) को ही लें। परमाणु संख्या और परमाणु त्रिज्या का ग्राफ देखिए। आप देखेंगे कि प्रत्येक आवर्त्त के पहले तत्व की त्रिज्या सबसे अधिक होती है तथा इसके बाद परमाणु संख्या बढ़ने के साथ-साथ केन्द्रक पर धनावेश बढ़ता जाता है और यह बढ़ा हुआ धनावेश इलेक्ट्रॉनों को ज़्यादा ताकत से अपनी ओर खींचता है। लिहाज़ा इलेक्ट्रॉन केन्द्रक के ज़्यादा करीब रहते हैं।

विभिन्न आवर्त्तों में परमाणु त्रिज्याओं का ग्राफांकन
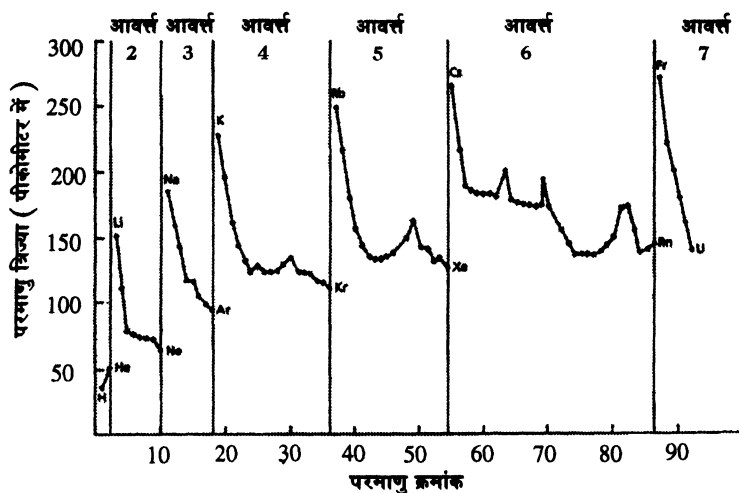
परन्तु ग्राफ में एक असामान्यता पर ध्यान दीजिए। आवर्त्त 1, 2 व 3 में तो परमाणु त्रिज्या लगातार घटती जा रही है मगर आवर्त्त 4 व 5 में एक बिन्दु पर आकर त्रिज्या एक बार फिर बढ़ने लगती है। इसका कारण यह है कि इन दो आवर्त्तों में d कक्षक भरे जा रहे हैं। ये s कक्षक की तुलना में केन्द्रक के ज़्यादा 'समीप' होते हैं। अतः इनमें मौजूद इलेक्ट्रॉन कुछ-हद तक बाहरी s इलेक्ट्रॉन पर केन्द्रक का प्रभाव कम कर देते हैं। तो ये s इलेक्ट्रॉन उतनी ताकत से आकर्षित नहीं होते और थोड़े 'पसर' जाते हैं। तत्वों के गुणों में परिवर्तन के संबंध में कुछ जानकारियां साथ वाले पेज पर दी गई हैं।

सुशील जोशीः विज्ञान लेखन में सक्रिय। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

आवर्त सारिणी : तत्वों के गुणों में क्रमिक परिवर्तन

इलेक्ट्रॉन लगाव

धात्विक गुण

इलेक्ट्रॉन श्रृणात्मकता

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18
1 H																	2 He
3 Li	4 Be											5 B	6 C	7 N	8 O	9 F	10 Ne
11 Na	12 Mg											13 Al	14 Si	15 P	16 S	17 Cl	18 Ar
19 K	20 Ca	21 Sc	22 Ti	23 V	24 Cr	25 Mn	26 Fe	27 Co	28 Ni	29 Cu	30 Zn	31 Ga	32 Ge	33 As	34 Sc	35 Br	36 Kr
37 Rb	38 Sr	39 Y	40 Zr	41 Nb	42 Mo	43 Tc	44 Ru	45 Rh	46 Pd	47 Ag	48 Cd	49 In	50 Sn	51 Sb	52 Te	53 I	54 Xe
55 Cs	56 Ba	57 La*	72 Hf	73 Ta	74 W	75 Re	76 Os	77 Ir	78 Pt	79 Au	80 Hg	81 Tl	82 Pb	83 Hi	84 Po	85 At	86 Rn
87 Fr	88 Ra	89 Ac**	104 Ku	105 Ha													

इलेक्ट्रॉन श्रृणात्मकता

परमाणु त्रिज्या

परमाणु त्रिज्या

गलनांक

घनत्व

तुमने यह क्या बनाया

चित्रः शोभा, 9 वर्ष

— कमलेश चन्द्र जोशी

बच्चों के बनाए चित्र – यानी चील बिलउवा; ज़रा गहराई में जाकर देखिए, ये चील बिलउवा कुछ कहते नज़र आएंगे

एक दिन मैं सेंटर के बाहर बैठकर बच्चों के चित्र देख रहा था कि रजनी की मां मेरे पास आई और मुझसे शिकायत भरे अंदाज़ में कहने लगी, "आप बच्चों से ये क्या 'चील-बिलउवा' बनवाते हैं? उन्हें कुछ पढ़ना-लिखना भी सिखाओ।" रजनी की मां की इस बात ने मुझे सोचने पर

मजबूर किया कि हम बच्चों के बनाए इन 'चील-बिलउवा' यानी चित्रों में क्या देखते हैं?

हमारे सेन्टर पर आने वाले सभी बच्चों से खूब चित्र बनवाए जाते हैं। ज़रा शिक्षिकाओं से पूछिए कि आप बच्चों से इतने चित्र क्यों बनवाती हैं? तो वे उत्तर देंगी, "इससे बच्चे हाथ चलाना सीख रहे हैं, उनके हाथ का संतुलन बन रहा है; उनकी रचनात्मकता, मौलिक सोच और कल्पनाशीलता को बढ़ावा दे रहे हैं वगैरह-वगैरह।" कभी-कभी मैंने यह भी नोट किया कि अगर हमारे पास कोई गतिविधि नहीं होती तब भी हम बच्चों से चित्र बनवा लेते हैं। वैसे मैं इस लेख के माध्यम से छोटे बच्चों (4-6 वर्ष) के चित्र बनाने की प्रक्रिया के बारे में अपने कुछ अनुभव बांटना चाहूंगा।

क्या कहते हैं ये चित्र

जब मैंने सेंटर पर बच्चों के साथ काम करना शुरू किया तो मेरे पास 20-22 बच्चे आते थे। मैं उनसे लगभग रोज़ ही चित्र बनवाया करता था। अब यहां पर एक सवाल उठ सकता है कि चित्रों से शुरूआत क्यों हुई? लिखने से क्यों नहीं?

इस बारे में मुझे लगता है कि बच्चों के लिए 'चित्रों की दुनिया' जितनी पास है उतने शब्द या अक्षर नहीं। बच्चों के लिए 'शब्द-अक्षर' अमूर्त हैं। अगर हम 'क' लिख दें तो बच्चे के लिए 'क' माने क्या हुआ? लेकिन जब बच्चा कबूतर देखता है तो उसका चित्र पहचानना बच्चे के लिए ज़्यादा आसान होता है। बच्चों के साथ काम करते हुए मुझे यह भी लगा कि बच्चा आकार बनाने के बाद लिखना जल्दी सीखता है।

शुरू-शुरू में बच्चों ने कागज़ व रंग लेने में काफी झिझक दिखाई। वे कहते कि हमें तो कुछ बनाना आता ही नहीं। तब उनको प्रोत्साहित करने के लिए मैंने कुछ आकार बनाकर दिखाए। जैसे गोल, त्रिकोण, चौकोन आदि। धीरे-धीरे ये आकार किन-किन आकृतियों में बदल गए, मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। जैसे गोल से बच्चों ने लड़का-लड़की, त्रिकोण से झुग्गी या घर, चौकोर से पतंग आदि बनाना सीखा। इन आकारों से शुरू करके बच्चों ने और बहुत सारी आकृतियां बनाई जिन्हें शायद हम आप न पहचान पाएं लेकिन अगर आप बच्चों से पूछें तो वह तुरन्त बता देंगे कि यह क्या बना है?

ज़रा उनके चित्रों को और ध्यान से देखें। अगर बच्चों ने लड़का बनाया है तो उसका मुंह ज़्यादा चौड़ा हो जाएगा, गर्दन व टांगे ज़्यादा लम्बी हो जाएंगी। यह इसलिए कि अभी इनके

हाथ का संतुलन इतना नहीं बना है कि आपको पूर्ण आकृति दे सकें। कुछ चीज़ें उल्टी-सीधी भी बन जाएंगी। वैसे मोटे-पतले व छोटे-बड़े में आपको ज़्यादा अंतर नज़र नहीं आएगा।

कुछ रंग ही क्यों

इसके बाद रंग भरने की प्रक्रिया पर गौर करें तो बच्चे आपसे कुछ ही रंग मांगेंगे जैसे – लाल, हरा, काला, संतरी। लाल रंग की मांग बहुत ज़्यादा रहती है। और इस बात पर भी गौर करना बहुत ज़रूरी है कि अगर बच्चे आपसे लाल रंग मांग रहे हैं तो 'लाल' का मतलब 'लाल' ही नहीं है – बच्चों के लिए लाल का मतलब नारंगी, पीला, नीला कुछ भी हो सकता है।

यहां मेरा कहने का मतलब है कि बच्चे की रंगों की पसंद भी व्यक्तिगत होती है। अगर आप उन्हें अपने मन से दो-चार रंग दे दें तो वे संतुष्ट नहीं होते। उन्हें रंगों के डिब्बे से खुद रंग चुनना बहुत अच्छा लगता है। वे अधिकतर चटक रंग ही चुनते हैं।

अब बच्चों को रंग भरते हुए देखिए। वे रंगों से कागज़ को इस तरह भरेंगे कि कागज़ ही फट जाए। लेकिन धीरे-धीरे वे आकृतियों में मेल बिठाते हुए उसके अन्दर रंग भरना सीख जाते हैं। और फिर आगे चलकर वे रंगों के बीच सामंजस्य बिठाना सीखते हैं। रंगों के सामंजस्य के बारे में 'देवकुमारी' का नाम लेना चाहूंगा। देवकुमारी शुरू-शुरू में जब मेरे सेंटर पर आई तो उसकी चित्र बनाने में इतनी दिलचस्पी नहीं थी। लेकिन अब वह मन से चित्र बनाती है। रंगों में वो नारंगी व काले रंग का प्रयोग करती है। उसके चित्रों की अपनी पहचान व शैली है। अगर आप ढेर सारे चित्रों में उसका चित्र रख दें तो
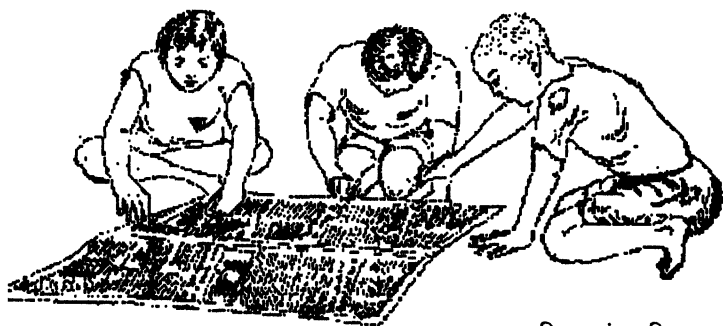
चित्र: धनंजय खिरवड़कर

रंगों के सामंजस्य की वजह से उसके चित्र तुरन्त पहचान में आ जाएंगे।

ज़रा पूछकर तो देखिए

बच्चों से चित्र बनवाने के बाद हम अक्सर उनसे नहीं पूछते (या शायद इसकी ज़रूरत नहीं समझते) कि उसने क्या बनाया है? लेकिन मुझे यह बहुत ज़रूरी लगता है। जब आप बच्चों से पूछते हैं कि आपने क्या बनाया है तो उनके चेहरे की चमक देखने लायक होती है। यह चमक उनके आत्मविश्वास को बढ़ावा देती है; साथ ही यह पूछकर आप बच्चे से एक रिश्ता भी बना रहे होते हैं।

लेकिन इसके साथ कुछ और चीज़ें भी जुड़ी हैं। जब आप शुरू-शुरू में उनसे पूछते हैं कि आपने क्या बनाया है? तो बच्चे जवाब नहीं देंगे और चित्र दिखाने में भी संकोच करेंगे। इससे यह बात सामने आती है कि अभी बच्चे में आत्मविश्वास की कमी है या वह आपसे घुल-मिल नहीं पाया है। कई बार ऐसा भी होता है कि उसका चित्र गंदा हो गया हो, कागज़ फट गया हो, या वह अपने चित्र को दूसरों से कमतर आंक रहा हो।

वैसे कागज़ फटने वाली स्थिति में हमारे लिए यह जानना ज़रूरी हो जाता है कि बच्चे से कागज़ क्यों फटा? हो सकता है धोखे से फट गया हो, या रबड़ अधिक घिसने से फट गया हो। कभी बच्चे खुद भी कागज़ फाड़ देते हैं क्योंकि वे अपने चित्र से संतुष्ट नहीं होते या चित्र बनाने के दौरान कागज़ इतना गंदा हो गया हो कि वह उसे किसी को दिखाने के लायक नहीं मान रहा हो।

इस स्थिति को हम अपने से जोड़ कर भी देख सकते हैं – जैसे अपने स्कूली जीवन में हमें अक्सर सुलेख लिखना होता था। अगर हमारा सुलेख गंदा हो जाए या उस पर स्याही का धब्बा पड़ जाए तो हम वह पन्ना फाड़ देते थे और उसे दुबारा लिखते थे। उस स्थिति के दो पहलू समझ में आते हैं एक तो शिक्षक का डर और दूसरा खुद की संतुष्टि का। आज भी अगर हम कोई महत्त्वपूर्ण खत वगैरह लिख रहे होते हैं तो उस में काट-पीट करना नहीं चाहते और गलत होने पर फिर से लिखते हैं। इन सब बातों को मैं इसलिए रख रहा हूं कि असल में हम इन छोटी-छोटी बातों पर ध्यान नहीं देते और कागज़ फट जाने पर बच्चों को बुरी तरह डांटते हैं। तो चलिए चित्र वाली बात पर दुबारा लौटते हैं।

चित्र बनवाने के बाद जब आप बच्चों से उन्हें बोर्ड पर लगाने को कहते हैं तब ध्यान दीजिए कि बच्चे कितने करीने से अपने चित्र को बोर्ड पर लगाते हैं। तब उन्हें लगता है कि

चित्र: धनंजय खिरवडकर

उनके चित्र को किसी ने मान्यता दी है। यह प्रोत्साहन उन्हें चित्रों में और दिलचस्पी लेने में मदद करता है।

स्कूली चित्रों की हकीकत

मैं सरकारी और पब्लिक स्कूलों में बनवाए जाने वाले चित्रों के बारे में भी कुछ कहना चाहता हूं।

पहली बात तो यह कि इन स्कूलों में बच्चों को रंग व कागज़ घर से लाने को कहा जाता है। और होता यह है कि अधिकतर बच्चे कागज़ या रंग घर पर ही भूल जाते हैं।

दूसरी बात कि उनके माता-पिता व शिक्षक इसे एक गौण विषय के रूप में मानते हैं। अक्सर मुझे माता-पिता से यह भी सुनने को मिलता है कि चित्र बनाना छोड़ो — कुछ सवाल करो या अंग्रेज़ी पढ़ो।

वैसे इन स्कूलों में बनवाए जाने वाले चित्र बेहद बोरियत भरे होते हैं। इनका बच्चों की आसपास की दुनिया से कोई संबंध नहीं होता। आमतौर पर वहां बच्चों से पेड़, फूल, पत्ते, साड़ी का किनारा, सीनरी आदि जैसे चित्र बनवाए जाते हैं। अब साड़ी के

किनारे से बच्चे को क्या मतलब? बच्चे यदि सीनरी बनाएंगे तो पहाड़ों से निकलता सूरज दिखाएंगे। क्या यह दृश्य बच्चों ने देखा है? इन चित्रों को बनवाते हुए शिक्षक और खुद बच्चे भी इतने 'टाइप्ड' हो जाते हैं कि इनके अलावा और चीज़ों के बारे में उनके लिए सोचना बहुत मुश्किल होता है। शायद 'राखी' की बात से कुछ स्पष्टता हो। चित्र बनाने के लिए एक दिन उसने मुझसे चार्ट मांगा – मैंने पूछा कि क्या बनाओगी? तो उसने कहा – "गुलाब का फूल।" मैंने कहा, "कोई और चीज़ बनाओ, जैसे अपने सेन्टर के बारे में, कोयला गाड़ी या बस्ती की कोई भी चीज़।" यह कहते हुए मैंने उसे चार्ट दे दिया। दूसरे दिन मैंने देखा कि वह चार्ट पर एक बड़ा-सा गुलाब का फूल बना लाई। ज़ाहिर है स्कूल में बनवाए गए चित्रों के आगे वह कुछ सोच नहीं पाई।

यानी स्कूल में किताबों से नकल कर बनवाए गए चित्रों के द्वारा हम बच्चों को आसपास की दुनिया से और उनकी स्वाभाविक सोच से काट रहे हैं। इसलिए यह ज़रूरी हो जाता है कि बच्चों से इस तरह के ही चित्र बनवाए जाएं जो उनकी स्वाभाविक सोच, कल्पनाशीलता, रचनात्मकता को बढ़ावा दे सकें।

शायद स्कूली अध्यापक भी इन चित्रों में बंध से गए हैं। अगर कोई बच्चा अपने मन से 'चील-बिलउवा' चित्र बनाता है तो उनके लिए वह कोई महत्व नहीं रखता। उल्टे वे बच्चों से कहते हैं कि किताब से सुन्दर चित्र बनाकर लाओ। अब इस सुन्दर चित्र को बच्चा कैसे बनाता है? ज़रा देखें – कक्षा में बच्चे को अध्यापक से 'गुड' लेना है इसलिए उसे सुन्दर चित्र बनाना है। इसलिए वह उस किताब से चित्र ट्रेस करता है या घर से बनाकर लाने के लिए कहा गया हो तो वह अपने माता-पिता, भाई-बहिन या अन्य किसी से बनवाता है।

अब आप ही सोचिए बच्चों के ये स्कूली चित्र ऊपर से कितने सुन्दर हैं पर वास्तव में हैं कितने खोखले?

कमलेश चन्द्र जोशी – दिल्ली में 'अंकुर अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र' में बच्चों के साथ विविध गतिविधियां करते और करवाते हैं। अंकुर संस्था दिल्ली की पांच झुग्गियों और पुनर्वास बस्तियों में बच्चों और युवतियों के साथ काम करती है।

ज़रा सिर तो खुजलाइए

पिछले अंक में पूछा गया सवाल: एक फ्लास्क या किसी भी संकरे मुंह के बर्तन में थोड़ा-सा पानी लेकर उसे गर्म करें। जब पानी उबलने लगे तो उसे नीचे उतार कर बर्तन के मुंह पर एक गुब्बारा फंसा दीजिए (देखिए चित्र)। और बर्तन को ठंडा होने दीजिए। देखिए क्या होता है?
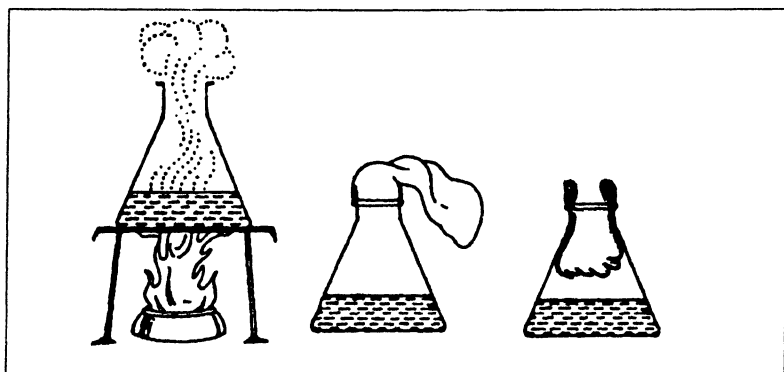
कई जवाब हमें मिले – लेकिन जिस खत में सही जवाब है उसमें लेखक का नाम स्पष्ट नहीं था। हां डाकघर की मोहर से यह मालूम पड़ा कि वो गुजरात से आया है। इस जवाब को हम प्रकाशित कर रहे हैं।

जवाब है: फ्लास्क में पानी उबालकर उसके मुंह पर गुब्बारा फंसाने के बाद ठंडा होने दिया तो गुब्बारा फ्लास्क के अंदर चला जाता है, या यूं कहो कि खिंच जाता है। गुब्बारा लगाते समय फ्लास्क में पानी की भाप होती है, जो ऊपर उठ रही होती है। इसलिए गुब्बारा थोड़ा-सा फूलता है। ठंडा होने पर भाप पानी में बदल जाती है। इस वजह से फ्लास्क के अंदर शून्यावकाश पैदा होता है; और बाहर की हवा के दबाव के कारण गुब्बारा फ्लास्क में खिंचा चला जाता है।

14 वें अंक में जो कॉर्क के तैरने वाला सवाल पूछा गया था उसका सही जवाब विजेन्द्र सिंह, अध्यापक, रा. प्रा. विद्यालय, राधापुरा, किशनगंज, ज़िला बारां, राजस्थान ने भी भेजा था। लेकिन उनका खत हमें देर से मिला इसलिए उसे प्रकाशित नहीं कर सके।

इस बार का ज़रा सिर तो खुजलाइए पृष्ठ नंबर 91 पर

बरसात, पानी की गोल बूंद और इंद्रधनुष

सवाल: इन्द्रधनुष, धनुष के आकार का ही क्यों होता है, सीधा या तिरछा क्यों नहीं होता?

जवाब: इन्द्रधनुष को लेकर मानव मन में कौतूहल प्राचीन काल से है। कहीं इसे ईश्वर का आसन माना गया तो कहीं पृथ्वी और स्वर्ग को जोड़ने वाला सेतु। 'इन्द्रधनुष' और अंग्रेज़ी के शब्द 'रेनबो (Rainbow)' में दो बातें झलकती हैं, इसकी धनुष-नुमा आकृति और बारिश के साथ इसका निकट संबंध (इन्द्र वैदिक युग में बारिश के देवता थे)।

यह तो हम सभी जानते हैं कि इन्द्रधनुष साफ मौसम में भी नहीं दिखता है और सूर्य के छिपे रहने पर भी नहीं। इसके लिए बारिश और सूर्य का प्रकाश, दोनों ज़रूरी हैं। ज़रा गौर से देखने पर हमने यह भी पाया होगा कि यह सूर्य की विपरीत दिशा में
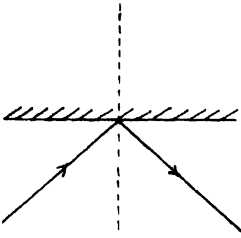
चित्र-1
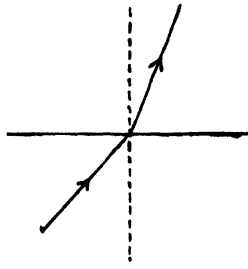
चित्र-2 (क)
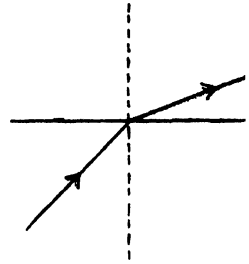
चित्र-2 (ख)

दिखता है, और ज़्यादातर सूर्योदय या सूर्यास्त के आगे-पीछे। हमने यह भी देखा होगा कि अगर इन्द्रधनुष को एक वृत्त का अंश मान लें, तो बैंगनी या नीला रंग वृत्त के अन्दर की तरफ होता है और लाल रंग बाहर की तरफ। लेकिन क्यों? और इन सब बातों का धनुष-नुमा आकार से क्या संबंध है? आइए, इन सवालों के जवाब ढूंढने की कोशिश करें।

वास्तव में इन्द्रधनुष के मनमोहक रूप के पीछे है प्रकाश का परावर्तन और अपवर्तन। इन प्रक्रियाओं से शायद आप परिचित होंगे।

प्रकाश का किसी सतह से टकराकर वापस आना परावर्तन कहलाता है (चित्र-1)। जब प्रकाश एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करता है तो वह अपने सीधे पथ से मुड़ जाता है (चित्र-2)। इसे अपवर्तन कहते हैं।

अब आप पूछ सकते हैं कि यहां दो माध्यम कहां से आ गए। ये हैं हवा और पानी। बारिश के मौसम में हवा में पानी की कुछ मात्रा छोटी-छोटी बूंदों के रूप में होती है। हमारे काम की बूंदें इतनी छोटी होती हैं कि वे बारिश बनकर नीचे नहीं गिरतीं, बल्कि हवा में तैरती रहती हैं। गिरती हुई बड़ी बूंदें बिल्कुल गोलाकार नहीं होतीं, खिंचकर लम्बी हो जाती हैं (चित्र-3 क); छोटी बूंदें बिलकुल गोलाकार होती हैं (चित्र-3 ख)।

इन्द्रधनुष बनने के लिए यह ज़रूरी है कि बूंदें ठीक गोलाकार हों।

अब मान लीजिए कि सूर्य का प्रकाश एक गोलाकार पानी की बूंद पर पड़ता है (चित्र-4)। पड़ने वाली या आपतित किरण 'क' हवा से पानी में प्रवेश करती है, जिससे वह 'चित्र 2क' की तरह मुड़ जाती है। फिर यह

चित्र-3
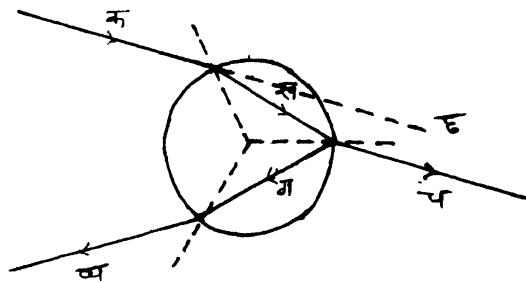
चित्र-4

किरण 'ख' बूंद की अन्दर की सतह से टकराती है। इसका एक भाग 'च' पानी से हवा में प्रवेश करता है और 'चित्र-2(ख)' की तरह अपवर्तित होता है। वहीं दूसरा भाग परावर्तित होता है। यह किरण 'ग' अपवर्तित होकर बाहर निकलती है – 'घ'। इन क्रियाओं के कारण किरण 'क' अपने सीध पथ 'छ' से विचलित या दिशा-परिवर्तित होती है।

निकलने वाली (या निर्गत) किरण 'घ' और आपतित किरण 'क' के बीच जो कोण बनता है, वह आपतन कोण पर निर्भर करता है। चित्र-5 में दर्शाया गया है किस तरह अलग-अलग किरणों के लिए यह कोण अलग होता है।

इनमें से कोई भी किरण देखने वाले (प्रेक्षक) की आंख तक पहुंच सकती है। अपवर्तन और परावर्तन के नियमों से, थोड़ी-सी त्रिकोणमिति और
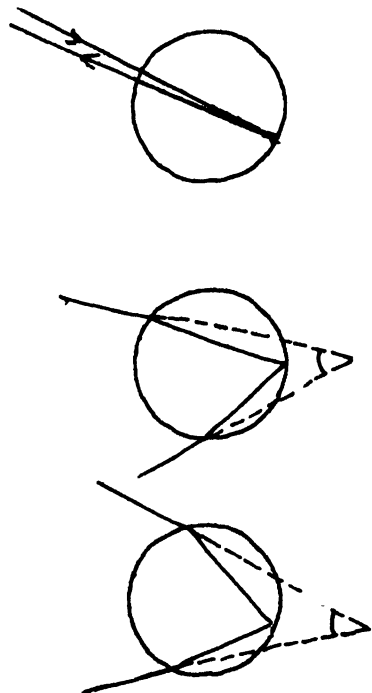
चित्र-5
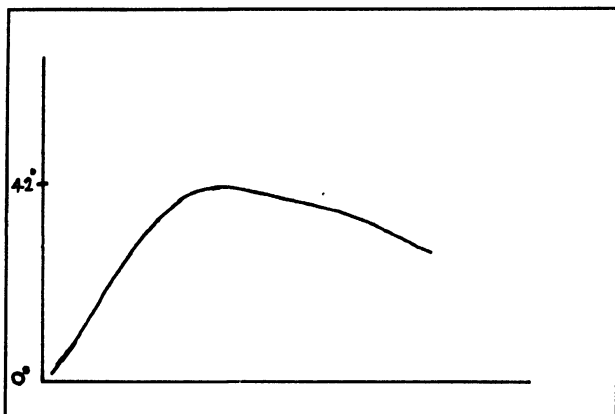
चित्र-6

कलन का सहारा लेकर, हम आपतन कोण और 'क' और 'घ' किरणों के बीच बनने वाले कोण के बीच में एक गणितीय संबंध स्थापित कर सकते हैं। यहां हम उस संबंध को एक ग्राफ के रूप में दर्शाएंगे (चित्र-6)।

इस चित्र से पता चलता है कि किसी भी आपतित किरण और निकलने वाली किरण के बीच के कोण का एक अधिकतम मान है, जो लगभग 42^0 है। (अब यह 42^0 कहां से आया? इसका संबंध पानी के अपवर्तनांक से है, जो लगभग 1.33 है।) यही नहीं, अधिकतर किरणों के लिए यह कोण 42^0 के आसपास ही है।

अब मान लीजिए कि हम सूर्य की ओर पीठ करके खड़े हैं, जिससे चित्र-4 के 'घ' की तरह परावर्तित किरणें हमारी आंख तक पहुंच रही हैं (चित्र-7)।

अगल-अलग बूंदों से अलग-अलग कोणों पर निकलने वाली किरणें आंख तक पहुंचती हैं, पर ऐसी कोई किरण नहीं होगी जिसके लिए यह कोण 42^0 से ज़्यादा हो। यानी आकाश के कुछ
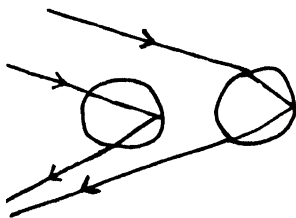
चित्र-7
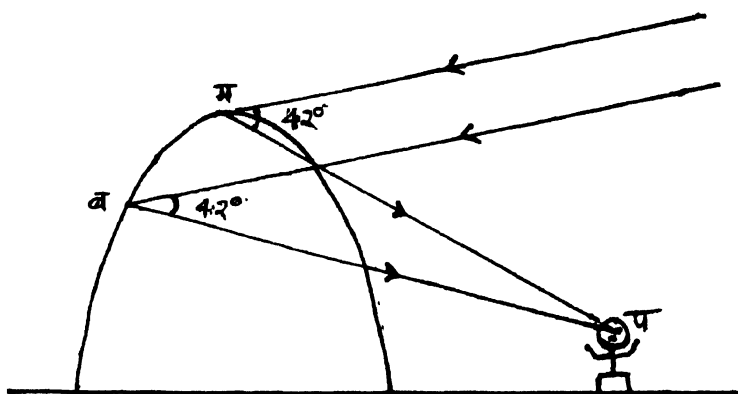
चित्र-8

हिस्से मे परावर्तित किरणें हमारी आंख तक पहुंचेंगी (जिससे वह हिस्सा चमकीला दिखेगा) और बाकी हिस्से से नहीं। चमकीले हिस्से की सीमा उन किरणों द्वारा निर्धारित होगी, जो 42^0 के कोण पर हैं।

चित्र-8 में दिखाया गया है कि इस सीमा का आकार क्या होगा।

प्रेक्षक 'प' ज़मीन पर खड़ा है। 'प' से जलकणों की दूरी 1-2 कि.मी. है जबकि सूर्य की दूरी 15 करोड़ कि.मी. है। इसलिए सूर्य की किरणें परस्पर समान्तर हैं, जैसा कि चित्र में दर्शाया गया है। 'ब' और 'म' दो ऐसी बूंदें हैं, जिनसे किरणें आपतित किरण, यानी सूर्य की दिशा, के साथ 42^0 का कोण बनाकर 'प' की आंख तक पहुंच रही हैं। ऐसे बिन्दुओं को जोड़ने पर एक वृत्त का अंश बनता है जैसा कि परकार को 42^0 पर खोलकर उसकी नोक को स्थिर रखकर पेंसिल को घुमाने से बनता है।

इस वृत्त को चित्र में मोटी रेखा द्वारा दर्शाया गया है। यही है चमकीले हिस्से की सीमा। चूंकि अधिकतर किरणें लगभग 42^0 का कोण बनाती हैं, सबसे ज़्यादा प्रकाश एक वृत्ताकार पट्टी से आएगा। जब सूर्य क्षितिज पर होगा, तो यह पट्टी अर्धवृत्ताकार होगी। सूर्य क्षितिज से जितना ऊपर उठेगा, अर्धवृत का उतना हिस्सा कट जाएगा। इसलिए अधिकतर इंद्रधनुष सूर्योदय और सूर्यास्त के समय दिखते हैं।

अब प्रश्न बचता है कि रंग अलग कैसे होते हैं। वास्तव में 'पानी का अपवर्तनांक' कोई एक संख्या नहीं है, यह अलग-अलग रंगों की किरणों के लिए थोड़ा-थोड़ा अलग होता है —
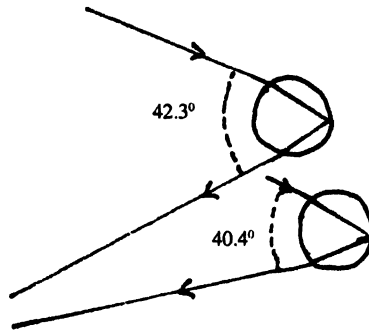
चित्र-9

लाल रंग के लिए सबसे कम (1.329) और बैंगनी के लिए सबसे ज़्यादा (1.343)। फलस्वरूप सबसे अधिक मुड़ाव का कोण भी कम-ज़्यादा होता है – लाल के लिए 42.3^0 और बैंगनी के लिए 40.4^0। अतः हमारी आंख तक पहुंचने वाली लाल किरणें जिन बूंदों से परावर्तित हुई हैं, वे आकाश में थोड़ी ज़्यादा ऊंचाई पर होंगी और बैगनी किरणों वाली बूंदें कम ऊंचाई पर (चित्र-9)। अब अगर इंद्रधनुष को गौर से देखें तो बिल्कुल यही दिखता है : ऊपर यानी बाहर की तरफ लाल रंग, उसके बाद पीला,
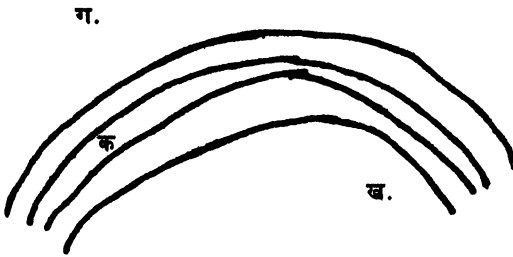
क: रंगीन और चमकीली वृत्ताकार पट्टियां।
ख: 'क' से कम चमकीला पर 'ग' से ज़्यादा।
ग: पृष्ठभूमि

चित्र-10
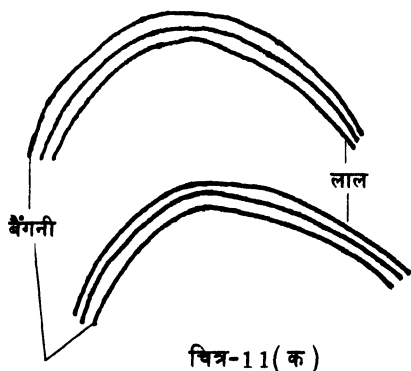
चित्र-11(क)
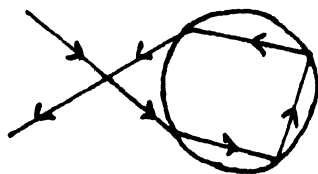
चित्र 11 (ख)

हरा आदि और सबसे अंदर बैंगनी। यही नहीं, वृत्त के अंदर का हिस्सा बाहर के हिस्से के बनिस्बत ज़्यादा चमकीला दिखता है (चित्र-10)।

दो इंद्रधनुष एक साथ

कभी-कभी एक साथ दो इंद्रधनुष दिखते हैं। दूसरा इंद्रधनुष पहले के बाहर की तरफ होता है। इसे द्वितीयक (Secondary) इंद्रधनुष कहते हैं। यह प्राय: पहले के मुकाबले कम स्पष्ट होता है और इसमें रंगों का क्रम उल्टा होता है – लाल अंदर और बैंगनी बाहर (चित्र-11क)। यह उन किरणों से बनता है जो बूंद के अंदर दो बार परावर्तित हुई हैं (चित्र-11ख)।

एक मज़ेदार घटना का उल्लेख पार्थ घोष और दीपंकर होम की 'चाय की प्याली में पहेली'* पुस्तक में है। बादलों के ऊपर उड़ते हुए हवाई जहाज़ में बैठे एक सज्जन ने नीचे झांका तो वहां एक इंद्रधनुष देखा जो पूरे वृत्त आकार का था!

ऊपर दिए गए विश्लेषण के आधार पर अब हम कह सकते हैं कि उस समय सूर्य लगभग सिर के ऊपर रहा होगा (चित्र-12)। दोपहर के समय इंद्र-धनुष देखने का यही एक तरीका है।

एक आखिरी प्रश्न – जो किरणें केवल अपवर्तित हुई हैं (जैसे चित्र 4 में 'च'), उनसे इंद्रधनुष क्यों नहीं बनता है? यह सूर्य की दिशा में – न कि इसके विपरीत दिशा में – बनना चाहिए।

क्या आपने कभी ऐसा इंद्रधनुष देखा है? यदि नहीं तो इसका क्या

* इस किताब की समीक्षा संदर्भ के अंक 8-9 में प्रकाशित हुई थी।
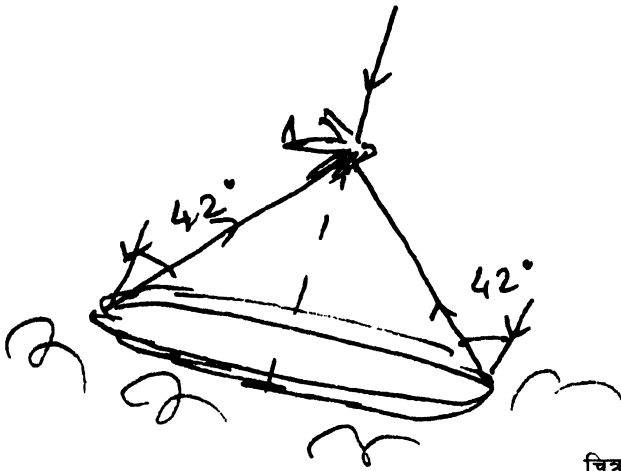
चित्र-12

कारण हो सकता है? सोचकर हमें इस पते पर लिखिए;

सवालीराम,
द्वारा संदर्भ,
एकलव्य, कोठी बाज़ार,
होशंगाबाद 461 001

वैसे अगली बार जब आपको इंद्रधनुष दिखाई दे तो ज़रा सोचिए कि उसके पीछे प्रकाश के परावर्तन और अपवर्तन की क्या प्रक्रिया है। हमें विश्वास है कि इस समझ से इंद्रधनुष आपको और भी ज़्यादा सुंदर और मनोहारी प्रतीत होगा।

(इंद्रधनुष वाले इस सवाल को पूछा था राजकुमार, कक्षा आठवीं, द्वारा ामश्रीलाल ओनकर, छिपानेर रोड, हरदा, ज़िला होशंगाबाद ने।)

इस लेख के सारे चित्र प्रतीकात्मक हैं।

इस बार का सवाल पृष्ठ नंबर 44 पर

जैन धर्म के इतिहास के कुछ पन्ने

'कौन ऐसी महिला है...?'

☛ सी. एन. सुब्रह्मण्यम

"... अपनी आंखों को हल्के से बंद रखते हुए आसन ग्रहण किया, अपने मन में भगवान जिन (महावीर) के चरण कमलों का ध्यान करते हुए पंचपादों का जप करने लगी। पूरे एक महीने कठोर उपवास रखते हुए सन्यास ग्रहण किया, समाधि के बारे में अपने गुरु और अन्य मुनियों के वचन सुनते हुए वह देवलोक सिधार गई..."

"इस कठोर और भयावह व्रत के चरम को देखकर वहां उपस्थित लोगों ने हाहाकार किया – कौन ऐसी महिला है जो इस व्रत में 'माचिकब्बे' की बराबरी कर सकती है! धरती पर ऐसा कौन है जो माचिकब्बे की तरह सन्यसन जैसे कठोर व्रत को धारण कर सकता है और 'पंडित मरण' को पा सकता है!"

इतनी ज़बरदस्त ख्याति रखने वाली यह महिला, माचिकब्बे, कौन थी?

माचिकब्बे

सन् 1131 की बात है। उस वर्ष माचिकब्बे नाम की एक भद्र महिला ने श्रवण बेळगोळा क्षेत्र में एक महीना कठोर उपवास रखकर अपने प्राण त्यागे थे। माचिकब्बे एक संपन्न, प्रतिष्ठित, प्रभावशाली परिवार की थी।

उसके माता-पिता दोनों शायद जैन धर्म को मानते थे। यह निश्चित है कि माचिकब्बे और उसके दो भाई जैन

धर्म को मानते थे। लेकिन आश्चर्य की बात है कि माचिकब्बे की शादी एक शैव धर्म के अनुयायी से हुई थी। उसके पति का नाम था, पेरगड्डे मारसिंगय्या।* यह विचारणीय है कि मारसिंगय्या शैव धर्म को मानते हुए भी जैन गुरुओं का सम्मान करते थे और माचिकब्बे एक शैव परिवार में रहते हुए जैनधर्म का पालन करती थीं। इन दोनों की एक पुत्री थी, शांतला; जिसकी शादी होयशळ वंश के राजा विष्णुवर्धन से हुई। शांतला और विष्णुवर्धन दोनों ने – जैन धर्म, शैव मत और श्रीवैष्णव मत – तीनों को समान रूप से आश्रय दिया।

इस बीच मारसिंगय्या की मृत्यु हुई। इसके कुछ ही दिनों बाद शांतला भी चल बसी। एक के बाद एक पति और बेटी के मरने से माचिकब्बे शोकाकुल हुईं। उनके मन में प्राण त्यागने का विचार बना: *"रानी (शांतला) देवलोक सिधार गईं तो मैं कैसे पीछे रह सकती हूं?"*

माचिकब्बे ने अपना सारा धन आश्रितों और ज़रूरतमंदों के बीच बांट दिया और खुद श्रवण बेळगोळा आ पहुंचीं। वहीं पर माचिकब्बे ने अपने गुरु प्रभाचंद्र सिद्धांतदेव के हाथ 'सन्यसन' व्रत धारण किया। इस व्रत में न केवल अन्न-जल ग्रहण करना क्रमशः बंद किया जाता है, बल्कि यह भी अपेक्षा है कि व्रतधारी खुली चट्टान में एक ही
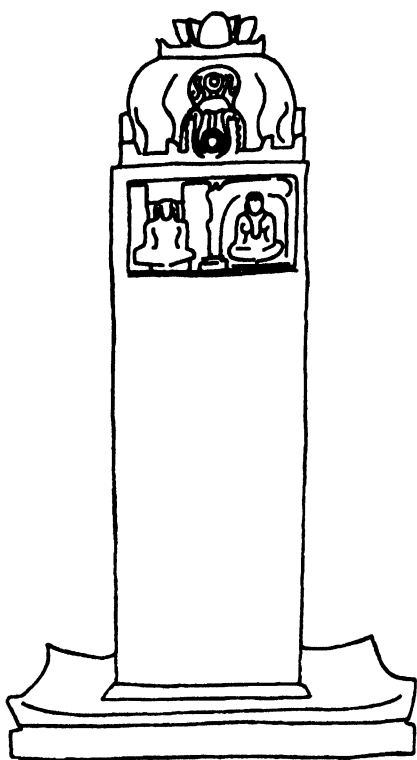
माचिकब्बे के निसिद्धि स्तंभ की रेखाकृति

* पेरगड्डे की उपाधि बड़े ज़मींदार या गांव के मुखिया को दी जाती थी।

मुद्रा में मृत्यु वरण करने तक रहे। माचिकब्बे ने अधखुली आंखों के साथ बैठने की मुद्रा अपनाई। महीने भर के व्रत-अनुष्ठान के बाद वे चल बसीं।

चिकब्बे ने शरीर क्यों त्यागा?

माचिकब्बे के जीवन और मृत्यु की कई आश्चर्यजनक और रोचक बातें हैं जिनकी तरफ ध्यान खिंचता है। उन दिनों जैन धर्म और शैव धर्म के बीच काफी तनाव था, इस बात के संकेतों की कमी नहीं है। ऐसे में एक परिवार में पति और पत्नी का दो अलग धर्मों का पालन करना और उनकी संतान का सभी धर्मों के प्रति निष्ठा रखना निश्चित ही उल्लेखनीय है। और फिर यह सवाल कि आखिर उसने अपना जीवन क्यों खत्म किया? कोई स्वेच्छा से मरे और वह भी एक लंबी और कठिन प्रक्रिया से, यह बात भी अनूठी ही है। ज़रूर इस निर्णय के पीछे व्यक्तिगत और व्यापक कारण रहे होंगे जिनके बारे में हमें कुछ संकेत मात्र मिलते हैं। आलेख में ही बताया गया है कि माचिकब्बे के इस निर्णय के पीछे उसके पति और बेटी की मौत से उत्पन्न वैराग्य था। लेकिन इस तरह की घटनाएं सभी के जीवन में होती रहती हैं, लेकिन वे शायद प्राण त्यागने को प्रेरित भी नहीं करतीं। और न ही स्वेच्छा से प्राण त्यागने जैसे कृत्यों को

माचिकब्बे की निसिद्धि का उपरी भाग

सामाजिक मान्यता मिलती है। इससे ऐसा लगता है कि माचिकब्बे के इस निर्णय के पीछे एक व्यक्तिगत त्रासदी के साथ-साथ, समाज में व्याप्त जीवन और मरण से संबंधित कुछ मान्यताएं भी ज़िम्मेदार थीं।

जिस मंडप में माचिकब्बे का निसिद्धि* स्तंभ स्थापित है उसी में दो और स्तंभ हैं। एक में उसके भाई सिंगिमय्या और दूसरे में उसके भतीजे बलदेव दण्डनायक के मृत्यु स्वीकारने की बात कही गई है। एकाध और शिलालेख से पता चलता है कि माचिकब्बे के नैहर में भी कुछ और लोगों ने स्वेच्छा से मौत को आमंत्रित किया था। (कुछ इतिहासकार मानते हैं कि शांतला ने भी मृत्यु को आमंत्रित किया था।) इन बातों से एक संशय उत्पन्न होता है कि कहीं उनके परिवार में एक प्रबल आत्मघाती प्रवृत्ति तो

* किसी की याद में स्थापित स्तंभ या आलेख या मंडप।

उपस्थित नहीं थी। कई मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि इस तरह की प्रवृत्ति अनुवांशिक भी हो सकती है। माचिकब्बे के सिलसिले में इस मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का योगदान कितना था, यह कहना कठिन है; इस संबंध में हमारी जानकारी पर्याप्त नहीं है।

II

सल्लखन*

परंपरा

वैसे जैन धर्म में 'खुदकुशी' और 'मृत्यु को आमंत्रित करना' (*सल्लेखन*) इन दोनों को मूलभूत रूप से भिन्न माना गया है। खुदकुशी में अपने आप को हिंसात्मक क्रिया के द्वारा खत्म किया जाता है। सल्लेखन में किसी भी प्रकार की हिंसा के लिए जगह नहीं है। इसमें भोजन और पानी को त्यागकर धीरे-धीरे अपने आप को खत्म होने दिया जाता है। इस प्रक्रिया में कष्ट ज़रूर होता होगा पर उसे हिंसा से उत्पन्न कष्ट से अलग माना गया है।

जैन धर्म के नियमों के अनुसार कोई भी व्यक्ति गुरु की अनुमति के बिना इस व्रत को धारण नहीं कर सकता। अनुमति देने से पहले यह सुनिश्चित किया जाता था कि उस व्यक्ति के जीवन का वृद्धावस्था या बीमारी के कारण अंत होने वाला है। तभी यह अनुमति दी जा सकती थी।

लगभग 150 ईसवी के सामंतभद्र अपने *'रत्नाकरण्ड श्रावकाचार'* में सल्लेखन के बारे में लिखते हैं, "सल्लेखन एक ऐसा व्रत है जो किसी विपदा, अकाल, वृद्धावस्था, या बीमारी के दौरान आत्मा को शरीर से मुक्त कराने के लिए किया जाता है।" सामंतभद्र यह भी बताते हैं कि सल्लेखन व्रत धारण करने से पहले व्यक्ति को दोस्ती, दुश्मनी, ममत्व, आदि त्यागकर सब परिचितों से क्षमायाचना कर, उन्हें क्षमा प्रदान करनी चाहिए। उन्हें अपने गुरु से अपने सारे दुष्कर्मों की चर्चा करनी चाहिए। गुरु उनकी मानसिक और शारीरिक स्थिति को देखते हुए सल्लेखन का उचित तरीका सुझाएगा।

सल्लेखन में क्रमशः आहार को कम किया जाता था। पहले हफ्ते में एक दिन के उपवास से शुरू करके फिर दिन में एक बार ही खाना, फिर धीरे-धीरे अनाज बंद करके फल व दूध ही ग्रहण करना, फिर सिर्फ दूध, फिर सिर्फ पानी, फिर ....। कभी-कभी यह प्रक्रिया बारह साल तक चल सकती

* स्वेच्छा से मौत को आमंत्रित करने के कई तरीके बताए गए हैं जिनमें 'सल्लेखन' एक है, 'पंडित मरण', 'समाधि मरण', 'सन्यसन' आदि अन्य तरीके हैं। लेकिन इस लेख में इन सब को 'सल्लेखन' के व्यापक नाम से पुकारा गया है।

थी। वैसे आम तौर पर यह क्रम तीन दिन से लेकर तीन महीने तक चलता था।

उपवास के साथ-साथ ध्यान और जाप करना भी ज़रूरी था। व्रत के दौरान अपने जीवन पर और आत्मा व शरीर संबंधी जैन धारणाओं पर विचार करना होता था।

विचारधारा

सन् 1432 में श्रवण बेळगोळा में श्रुतमुनि नाम के एक प्रभावशाली मुनि ने अपनी देह त्यागी थी। व्रत के दौरान उन्होंने क्या विचार किया इसका उल्लेख उनके निसिद्धि स्तंभ में है।

"यह शरीर दुख का घर है और सभी के द्वारा त्यागने योग्य है। इसीलिए सारे मुनि इस शरीर को कठोर तपस्या द्वारा छोड़ने के लिए तत्पर रहते हैं। भौतिक वासनाओं में लिप्त शरीर भरा हुआ विष का प्याला है जो केवल अनगिनत जन्मों में हमें फंसा सकता है। इस कारण सभी मुनि अपने शरीर को त्यागकर सारे कर्मों को नष्ट करके अमरत्व पाते हैं।..."

शरीर, जीवन और मृत्यु के बारे में इस कथन की अन्य वैचारिक परंपराओं से तुलना करने पर इसकी खासियत उभरकर आती है। उदाहरण के लिए नाथपंथियों का मानना था कि शरीर के मांध्यम से ही ईश्वर को पाया जा सकता है और इसके लिए शरीर को स्वस्थ अवस्था में बनाए रखना है और यहां तक कि उसे अमर बनाने की कोशिश करना चाहिए। इसी सिद्धांत की प्रेरणा से 'रसवाद' का विकास हुआ।

जीवन के अंतिम दिनों में व्यक्ति के मन से मृत्यु भय को हटाना, जीवन के प्रति इच्छा को समाप्त करना, इस पूरी प्रक्रिया का उद्देश्य रहा होगा। ताकि मनुष्य एकदम शांत होकर मृत्यु का सामना कर सके।

सामंतभद्र, जिनके ग्रंथ का उल्लेख पहले किया गया है, बताते हैं कि व्रतधारियों को पांच तरह के विचारों से बचना चाहिए: *1. मौत बाद में हो, ऐसा सोचना, 2. मौत जल्दी आ जाए, ऐसा सोचना, 3. मृत्यु की पीड़ा का भय, 4. दोस्तों व रिश्तेदारों को याद करना और 5. किसी भी प्रकार के फल की कामना।*

दरअसल मौत को आमंत्रित करने की प्रथा भारत के किसी अन्य महत्वपूर्ण धार्मिक संप्रदाय में सशक्त रूप में विकसित नहीं हुई। बौद्ध धर्म में शरीर को इस तरह अत्यधिक कष्ट पहुंचाने की मनाही थी। हिंदू या ब्राह्मणवादी संप्रदायों में भी मौत की प्रतीक्षा न करके खुद उसकी ओर जाना लगभग मना था। वास्तव में किसी भी ईश्वरवादी धर्म में माना जाता है कि ईश्वर ही सबकी सृष्टि करता है और

उसी को उन्हें खत्म करने का अधिकार है। मनुष्य के जीवन का अंत कब होना है यह तय करने का अधिकार ईश्वर को ही है मनुष्य को नहीं। इस सिद्धांत के अपवाद ज़रूर रहे हैं, जैसे सती प्रथा या प्रयाग में डूब मरने की प्रथा या जगन्नाथ रथ के नीचे आकर मरने की प्रथा। लेकिन ये मात्र अपवाद ही रहे हैं।

जैन धर्म निरीश्वरवादी धर्म है और इसमें सृष्टिकर्त्ता और संहारी ईश्वर के लिए कोई जगह नहीं है। अतः मरने तक मनुष्य के प्रयत्नों पर ही ज़ोर दिया गया है। इसलिए 'सल्लेखन' जैसी प्रथा जैन धर्म में ही विकसित हो पाई।*

शरीर और जीवन संबंधित जैन विचारकों के इन सिद्धांतों ने जैन धर्म के अनुयायियों के विचारों पर गहरा असर छोड़ा। इस बात का माचिकब्बे और उसके रिश्तेदार ठोस सबूत प्रदान करते हैं।

निश्चय ही यह मानसिकता इस परिवार तक सीमित नहीं थी: श्रवण बेळगोळा में ही सैकड़ों और लोगों के प्राण त्यागने की बात वहां के शिलालेखों में लिपिबद्ध है। कर्णाटका की कई और जगहों से भी हमें सल्लेखन से संबंधित आलेख मिलते हैं।

III

एक मानसिकता का इतिहास

मौत की पहाड़ी

इतिहास में लोगों के जीवन के बारे में काफी कुछ कहा जाता है लेकिन मृत्यु के बारे में चर्चा दुर्लभ है। कर्णाटका के श्रवण बेळगोळा क्षेत्र की पहाड़ी 'कटवप्र' एक ऐसी अद्वितीय पहाड़ी है जिसकी ख्याति लोगों के मरण से बनी है। यहां माचिकब्बे जैसे सैकड़ों लोगों ने स्वेच्छा से अपने प्राण त्यागे। इन लोगों के जीवन और मृत्यु के बारे में यहां कई आलेख मिलते हैं। इसलिए मृत्यु के प्रति लोगों की मानसिकता के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए यह एक उपयुक्त क्षेत्र है।

दिगंबर जैन परंपराओं के अनुसार कटवप्र पहाड़ी में सल्लेखन की शुरुआत इस पंथ के प्रमुख आचार्य भद्रबाहु और उनके प्रसिद्ध शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य ने लगभग 250 ई. पू. में की थी। परंपरा के अनुसार इसके बाद सैकड़ों जैन मुनियों ने यहां मौत को स्वीकारा। यहां के शिलालेखों में हमें लगभग 600 ईसवी से यहां आकर सल्लेखन

* एक और संप्रदाय में मनुष्य प्रयत्न से मरने की बात की गई थी – आजीविक संप्रदाय। यह संप्रदाय प्राचीन काल में काफी प्रभावशाली रहकर मध्य काल में लुप्त हो गया। उल्लेखनीय है कि आजीविकों के प्रवर्तक 'मक्खली गोशाल' और 'महावीर' दोनों ने, लंबे समय तक साथ-साथ भ्रमण किया था।

करने वालों की जानकारी मिलती है। हमारे पास जो जानकारी है उसके अनुसार सिर्फ 600 से 800 ईसवी के बीच 68 लोगों ने यहां अपने प्राण त्यागे। यानी तकरीबन हर तीन वर्ष में एक व्यक्ति। यहां के दस्तावेज़ों में सन् 600 से 1600 के बीच लगभग 150 लोगों के सल्लेखन का ज़िक्र है।

इस तरह मरने वाले कौन थे, समाज के किन तबकों से आए थे, उनकी संख्या कब ज़्यादा थी और कब कम .... अगर इन सवालों के कुछ जवाब मिलें तो इस विचारधारा के फैलाव को हम समझने का प्रयास कर सकते हैं। ज़रा नीचे दी गई तालिका को देखिए।

सातवीं शताब्दी में सबसे ज़्यादा लोगों ने मृत्यु स्वीकारी – जिनमें से शायद सभी साधु या साध्वी थे। अगली दो शताब्दियों में यह परंपरा थम-सी जाती है और फिर से सन् 900 के बाद शुरू हो जाती है। लेकिन अगली दो शताब्दियों में मरने वालों में साधु या साध्वियां नहीं के बराबर हैं। फिर अचानक सन् 1100 से 1200 के बीच मरने वालों की संख्या तेज़ी से बढ़ती है। अब भी गृहस्थ आगे हैं, लेकिन साधु ज़्यादा पीछे नहीं हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि मरने वालों में एक तिहाई महिलाएं हैं और वह भी गृहस्थ महिलाएं। फिर मरने वालों की संख्या घट जाती है और सन् 1400 के बाद नगण्य हो जाती है।

इतिहासकार के लिए यह तालिका काफी दिलचस्प और महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके आधार पर वह कुछ

कटवप्र पहाड़ी पर सल्लेखन द्वारा मरने वालों का ब्यौरा

वी	साधु	साध्वी	गृहस्थ पुरुष	गृहस्थ महिला	अनिश्चित	कुल
)1-700	38	8	–	–	10	56
)1-800	8	1	–	–	3	12
)1-900	–	–	–	–	2	2
)1-1000	–	–	7	1	2	10
)01-1100	–	1	–	–	8	9
01-1200	9	1	9	7	5	31
:01-1300	2	–	–	3	3	8
;01-1400	6	–	1	2	–	9
01-1500	1	–	2	–	–	3
›01-1600	–	–	–	–	–	0

सवाल उठा सकता है:

- शुरू में ज़्यादातर साधु और साध्वियां ही क्यों मरे?
- सन् 800 से 1100 के बीच साधु-साध्वियों का मरना क्यों बंद हो गया?
- इस दौरान गृहस्थ क्यों मरने लगे?
- मरने वाली महिलाओं का प्रतिशत अचानक क्यों बढ़ा?
- सन् 1400 के बाद यह प्रथा बंद-सी क्यों होने लगी?

आखिर इतिहासकार का काम तभी शुरू होता है जब उसे किसी विषय में समय के साथ बदलाव दिखता है। तो चलिए स्वेच्छा से जीवन को खत्म करने के इस रिवाज़ के इतिहास को बारीकी से देखें।

इस पूरे इतिहास का गहरा विश्लेषण किया है कर्णाटका के प्रसिद्ध इतिहासकार 'एस. शेट्टर' ने। प्रस्तुत लेख काफी कुछ उन्हीं के शोध पर आधारित है।

मौत का इंतज़ार

इतिहासकारों का अनुमान है कि आज से 1400 साल पहले श्रवण बेळगोळा घने वनों का एक निर्जन इलाका रहा होगा; सांप, शेर जैसे भयानक जानवरों का निवास।

कई जैन मुनियों ने ऐसी सुनसान भयानक जगह को अपने जीवन को समाप्त करने के लिए चुना। उनके संकल्प और धीरज पर आश्चर्य ही होता है। वीरान जंगल में रहना तो अलग, वहां अन्न भोजन त्यागकर धीरे-धीरे शरीर की शक्ति को क्षीण होते देखना कोई सामान्य बात नहीं थी। आलेखों में कहा गया है कि वे लोग जीवन की तमाम आशा, इच्छाएं, अपनी विद्वता, ज्ञान का दंभ और जीने या मरने की इच्छा तक त्यागकर वहां आ बैठते थे।

शायद शुरू में ये लोग अकेले ही रहकर खत्म हो जाते थे। इसलिए इनके यहां मरने का कोई प्रमाण नहीं बचा है। बस सिर्फ उन्होंने एक परंपरा की नींव डाली और गुमनाम बनकर ही रह गए। लेकिन संभवतः बाद के समय में यहां मरने वालों की सेवा करने के लिए कुछ लोग साथ रहते थे। वे उन मुनियों या साध्वियों के शिष्य रहे होंगे। व्रतधारियों के मरने के बाद ये सेवक उनका अंतिम संस्कार करके उनके मरने की जगह की चट्टान पर उनका नाम खुदवा जाते।

कटवप्र में शुरू में यानी कि सातवीं शती में मरने वालों से संबंधित लेखों को ध्यान से देखें तो पता चलता है कि ज़्यादातर मुनियों के संघों के बारे में जानकारी नहीं है। केवल साध्वियों के संघों का नाम अनिवार्य रूप से बताया जाता है। इससे ऐसा लगता है कि या तो ये मुनि स्वतंत्र श्रमण* थे जो किसी संघ के सदस्य नहीं थे या फिर यहां मरने आने से पहले अपने संघ से नाता तोड़ देते थे।
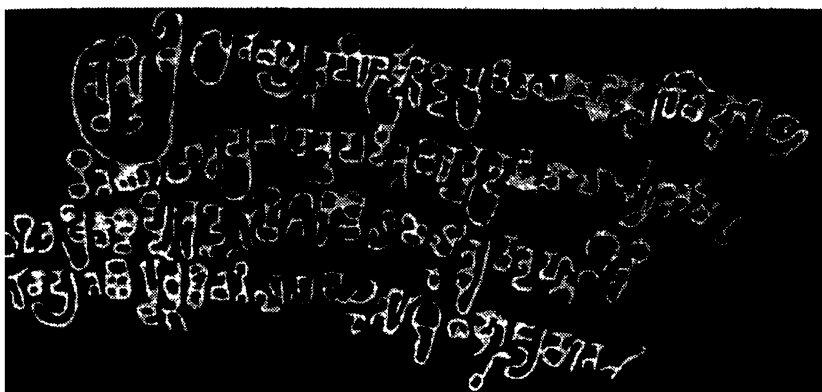
चट्टान पर खुदा आलेख: लगभग सातवीं शती के इस आलेख में चन्द्रदेवाचार्य की तपस्या और मृत्यु का उल्लेख है

बौद्ध धर्म के विपरीत जैन धर्म में शुरू में श्रमणों के इकट्ठे रहने या इकट्ठे भ्रमण करने का प्रावधान नहीं था। प्राचीन जैन ग्रंथ श्रमणों से अकेले और सतत भ्रमण करते रहने का आग्रह करते हैं। शायद इसी कारण शुरू में जैन मठालय नहीं बने। अपनी भ्रमणशीलता के कारण जैन मुनि दूर दराज़ के इलाकों में जा पहुंचे। इतिहासकारों का कहना है कि सुदूर दक्षिण की मदुरै की पहाड़ियों में जैन मुनियों से संबंधित आलेख मौर्य काल से मिलने लगते हैं। लेकिन तीसरी या चौथी शताब्दी से जैन श्रमण भी जैन मंदिरों के आसपास एक जगह बनाकर रहने लगे। लेकिन सारे श्रमणों ने ऐसा नहीं किया और कई अब भी अकेले घूमते रहे। इस तरह जैन श्रमणों में 'मठवासी' और 'वनवासी' दो खेमे बने। कटवप्र के आलेखों से लगता है कि यहां शुरू में आकर मरनेवालों में वनवासी श्रमण अधिक थे।

आलेखों में मरने वालों के नाम के साथ जो विशेषण दिए गए हैं, उनकी ओर इतिहासकर 'शेट्टर' हमारा ध्यान खींचते हैं। इन विशेषणों में उनकी तपस्या, दया, ज्ञान आदि पर ज़ोर है। चमत्कारी शक्ति, परधर्म से वाद-विवाद करने की क्षमता, या वाकपटुता आदि गुणों का इन श्रमणों के संदर्भ में ज़िक्र नहीं किया जाता, जो राजाओं या धनी उपासकों का आश्रय पाने के लिए ज़रूरी थे। शायद उनपर किसी प्रभावशाली मठ या सुगठित संघ को चलाने की ज़िम्मेदारी नहीं थी।

ये लोग कौन थे और इन्हें कौन आश्रय देता था यह कहना कठिन है। लेकिन यह तो तय है कि कोई उदार

जैन और बौद्ध धर्म में 'श्रमण', साधु को कहते हैं।

राजाश्रय उन्हें प्राप्त नहीं था। यही अनुमान लगाया जा सकता है कि ये जैन मुनि सामान्य लोगों के आश्रय में रहते थे और शायद अकेले परिव्राजक* बनकर घूमते रहते थे। जब उन्हें जीने का मकसद खत्म होता दिखता, तो इस निर्जन पहाड़ी पर जीवन त्याग के लिए आ पहुंचते थे। ये श्रमण अपने व्यक्तिगत व्यवहार और आचरण से लोगों को जैन धर्म की ओर आकर्षित कर रहे थे। इस आचरण में शायद सल्लेखन का एक विशेष स्थान था।

सातवीं और आठवीं शताब्दी से ही कटवप्र पहाड़ी पर यात्रियों का आना जाना शुरू हो चुका था। कुछ तो व्रतधारियों के अंतिम दर्शन के लिए आते होंगे तो कई अन्य उनके मरने की जगह पर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने। उल्लेखनीय है कि इनमें से शायद ही किसी ने कोई राशि या संपत्ति का दान किया होगा। संभवतः दान पाने के लिए यहां कोई मठ या मंदिर था ही नहीं। कुछ गिने-चुने यात्रियों ने ज़रूर अपना नाम यहां की चट्टानों पर खुदवाया था।

सन् 900 के बाद यहां यात्रियों का तांता लगने लगा। ज़्यादा-से-ज़्यादा यात्री चट्टानों पर अपना नाम खुदवाने लगे। यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण बात है कि यात्री इस पहाड़ी पर आते थे, बावजूद इसके कि यहां कोई खास मंदिर या मठ नहीं था। केवल एक तीर्थ (कुण्ड) था जिसमें शायद वे नहाते थे। लेकिन उनके यहां आने का मुख्य कारण यहां पर मरने वालों को श्रद्धांजलि देना ही रहा होगा। यानी कि मृत्यु को स्वेच्छा से स्वीकार करना एक लोकप्रिय आदर्श बनता जा रहा था। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन धर्म के बढ़ते प्रभाव के साथ समाज में जीवन और मृत्यु के बारे में जैनों की धारणाएं भी जड़ पकड़ रही थीं।

राजवंशों में सल्लेखन का प्रभाव

(सन् 900 से 1100)

उपरोक्त तालिका से एक बात स्पष्ट हो गई होगी कि सन् 800 के बाद जैन श्रमणों द्वारा मौत को आमंत्रित करना अपेक्षाकृत कम हो गया था; इसके विपरीत सामान्य लोग यानी गृहस्थों में यह प्रथा अधिक लोकप्रिय होता जा रही थी। उदाहरण के लिए सन् 900 से 1000 के बीच कम-से-कम आठ गृहस्थों द्वारा मौत को आमंत्रित करने का प्रमाण है; लेकिन इस बीच एक भी श्रमण ने ऐसा नहीं किया। इस विडंबना के कारण क्या रहे होंगे इसका हम केवल अनुमान लगा सकते हैं।

सन् 900 से 1000 के बीच

* घुमंतू श्रमण

सल्लेखन पद्धति से मरने वालों में समाज के उच्चतम श्रेणी के लोग थे – गंगवंश का राजा मारसिंह, राष्ट्रकूट राजा इंद्र, और गंगवंश का मंत्री चौण्डराय, एक अन्य राज परिवार का एक पुरुष और एकाध बड़ा सामंत।

लगभग 400 ईसवी से जैन मत को दक्षिण भारत के राजाओं से आश्रय मिलने लगा था। गंगवंश, चालुक्य वंश और राष्ट्रकूट वंश तीनों को जैन मुनियों का समर्थन प्राप्त था और बदले में इन वंशों के राजाओं ने जैन मंदिरों को काफी धन और ज़मीन दान में दिए। जैन स्रोत हमें यकीन दिलाना चाहते हैं कि इनमें से अधिकांश राजा व्यक्तिगत रूप से जैन धर्म को मानते थे। (लेकिन यह ध्यान में रहना चाहिए कि ये राजा शिव व विष्णु मंदिरों और ब्राह्मणों को भी उतनी ही उदारता से दान दे रहे थे।) एक धर्म के प्रति रुझान होना एक बात है और उसके कहे अनुसार प्राण त्यागना दूसरी बात है। लेकिन इन राजाओं ने ऐसा क्यों किया? इन प्रश्नों के उत्तरों के कुछ संकेत शायद उस समय के राजनैतिक इतिहास में मिलेंगे।

'गंगराजा मारसिंह' राष्ट्रकूट वंश का सामंत था। लेकिन उन दिनों राष्ट्रकूट वंश के पतन के दिन थे। राष्ट्रकूट वंश, गंगवंश के समर्थन के आधार पर राज्य चला रहा था। मारसिंह की बहन का लड़का था राष्ट्रकूट 'राजा इंद्र'। इंद्र नाम के लिए तो राजा था मगर चालुक्य वंश द्वारा सन् 973 में गद्दी से हटा दिया गया था। मारसिंह ने इंद्र को फिर से गद्दी पर बिठाने की खूब कोशिश की मगर असफल रहा। अगले साल उसने सन्यास गृहण कर लिया

राजा मारसिंह का निसिद्धि स्तंभ

और उसके एक साल बाद सल्लेखन। इंद्र इसके कुछ साल बाद तक इधर-उधर घूमता रहा मगर अपना खोया हुआ राजपाट वापस न पा सका। अंत में वह भी सल्लेखन द्वारा मरा। उसके साथ राष्ट्रकूट वंश का भी अंत हुआ। क्या इनकी राजनैतिक निराशा इनके सल्लेखन अपनाने का कारण बनी?

गंगराजा मारसिंह के मरने के बाद उसके एक रिश्तेदार ने उसके पुत्र राचमल्ल से राज्य छीनने का प्रयास किया। 'चौण्डराय' ने, जो मारसिंह और राचमल्ल के मंत्री थे, राचमल्ल की मदद की।

लेकिन अब तक आते-आते गंग वंश का राज्य भी लड़खड़ाने लगा था। होयशळ वंश उसकी जगह लेने के लिए तत्पर था। शायद कुछ हद तक चौण्डराय की भी हालत मारसिंह जैसी बन रही थी। उसने भी इसी वजह से संभवतः सल्लेखन द्वारा मृत्यु हासिल की।

चौण्डराय का निसिद्धि स्तंभ।

कर्णाटका के इतिहास में और खासकर श्रवण बेळगोळा के इतिहास में चौण्डराय का एक विशेष स्थान है। आज अगर यह क्षेत्र भारत के नक्शे में जाना जाता है तो यहां की विशालकाय (लगभग 60 फीट ऊंची), एक शिला की बनी, भगवान बाहुबलि (गोम्मटेश्वर) की मूर्ति के कारण। इस मूर्ति को सन् 983 में चौण्डराय ने ही बनवाया था। उसने और उसके पुत्र ने मिलकर कटवप्र पहाड़ी पर एक अति अलंकृत मंदिर भी बनवाया।

चौण्डराय को कन्नड़ साहित्य के प्रवर्तकों में गिना जाता है। उसके द्वारा लिखित चौण्डराय पुराण – जिसमें 24 तीर्थंकरों आदि की जीवनियां हैं – कन्नड़ में उपलब्ध सबसे पुराने गद्यों में से एक है।

राजाश्रय और जैन श्रमण

तालिका को देखकर हमने एक सवाल उठाया था कि सन् 800 से 1100 के बीच श्रमणों द्वारा सल्लेखन के उदाहरण लगभग खत्म होने के क्या कारण हो सकते हैं। इस प्रश्न का कोई सीधा या स्पष्ट उत्तर तो नहीं दिया जा सकता, लेकिन निश्चय ही इसका ताल्लुक जैन संघ के बढ़ते राजाश्रय से है। इस दौर में खूब सारे जैन मंदिर बन रहे थे और राजाओं की तरफ से उन्हें दान मिल रहा था। इसका असर जैन संघों पर भी पड़ने लगा। वनवासी श्रमण मानो लुप्त ही हो गए। यही नहीं शुरू के दिनों के संघ अब गायब हो जाते हैं। उनकी जगह ले लेते हैं, कुछ अतिशक्तिशाली संघ, जैसे 'मुलसंघ'। ये संघ श्रवण बेळगोळा में बन रहे मंदिरों और मठों पर धीरे-धीरे अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं और इन मंदिरों व मठों के लिए साधन जुटाने में लग जाते हैं।

इसके साथ ही वे जैन धार्मिक ग्रंथों के निर्माण में भी लग जाते हैं। वे यह भी तय करने लगते हैं कि असली जैन धर्म क्या है। इसके साथ वाद-विवाद का दौर भी शुरू हो जाता है। राजाश्रय के लिए दूसरे संप्रदायों से झगड़े, सक्रिय रूप से राजनीति में भाग लेना – यह सब भी शुरू हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि इस काल से जैन संघ यह दावा करने लगते हैं कि जैन मुनियों के ही आशीर्वाद से गंग राज्य और उसके बाद होयशळ राज्य स्थापित हुए। गोम्मटेश्वर के दर्शन के लिए, नए-नए बन रहे मंदिरों को देखने के लिए और वहां रह रहे मुनियों से मिलने के लिए यात्रियों का तांता लगने लगा। धीरे-धीरे इस पहाड़ी के आसपास एक संपन्न शहर बस गया। उसमें धनी व्यापारी और सेठ आकर रहने लगे। वे भी मंदिरों व मठों के कामकाज़ में 'हाथ बंटाने' लगे।

इसी दौर में जैन मत में एक और महत्वपूर्ण बदलाव आया। जैन शास्त्रों में अब लिखा जाने लगा कि जैन समाज में भी चार वर्ण हैं और सबको अपने-अपने वर्ण के अनुरूप काम करना चाहिए। शूद्रों को धार्मिक क्रियाओं से बाहर रखा जाने लगा। शूद्रों के श्रमण बनने पर पाबंदी लग गई।

कुल मिलाकर सन् 900 से जैन श्रमणों का संघ, एक सक्रिय राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्था के रूप में उभरने लगा। शायद इसके कारण पुराने 'वनवासी' श्रमणों की परंपराएं खत्म-सी हो रही थीं। हो सकता है कि इस परिवर्तन के कारण श्रमणों में सल्लेखन द्वारा मरने की प्रथा सन् 800 से 1100 के बीच देखने को नहीं मिलती है।

एक नया दौर : 1100 - 1200

तालिका से स्पष्ट होगा कि सातवीं शताब्दी के बाद बारहवीं शताब्दी में सबसे ज़्यादा लोगों ने सल्लेखन प्रथा को अपनाया। इसमें पहली बार श्रमण, साध्वियों, अन्य पुरुषों और महिलाओं की भागीदारी थी। ऐसा लगता है कि सदियों के बाद मृत्यु से संबंधित जैन सिद्धांतों व व्यवहारों का लोकव्यापीकरण हुआ। इनमें से अधिकांश सल्लेखन सन् 1110 से 1145 के बीच हुए। सन् 800 के बाद इतने कम अंतराल में इतने ज़्यादा लोगों का मरना काफी आश्चर्यजनक है। निश्चित ही उस समय जो गुरु हुए, यह उनके प्रभाव का नतीजा रहा होगा।

जब हम मरने वालों की सूची को देखते हैं तो इनमें दो प्रमुख समूह उभरते हैं: पहला माचिकब्बे समूह और दूसरा गंगराजा समूह। माचिकब्बे और उनके रिश्तेदारों के बारे में हम पहले ही पढ़ चुके हैं; माचिकब्बे के गुरु प्रभाचंद्र सिद्धांतदेव भी सल्लेखन विधि से मरे। माचिकब्बे, उनके भाई, भतीजे और गुरु, इन चारों की निसिद्धियां दो आसपास स्थित मण्डपों में स्थापित हैं।

कटवप्र पहाड़ी पर दो और मंडप हैं जिनमें गंगराजा समूह की निसिद्धियां हैं। गंगराजा, होयशळ राजा विष्णुवर्धन का सामंत था और उसने श्रवण बेळगोळा में कई मंदिर आदि बनवाए और कई तरह के दान दिए थे। लक्ष्मीमती, गंगराजा की पत्नी थी। सबसे पहले सन् 1113 में लक्ष्मी के
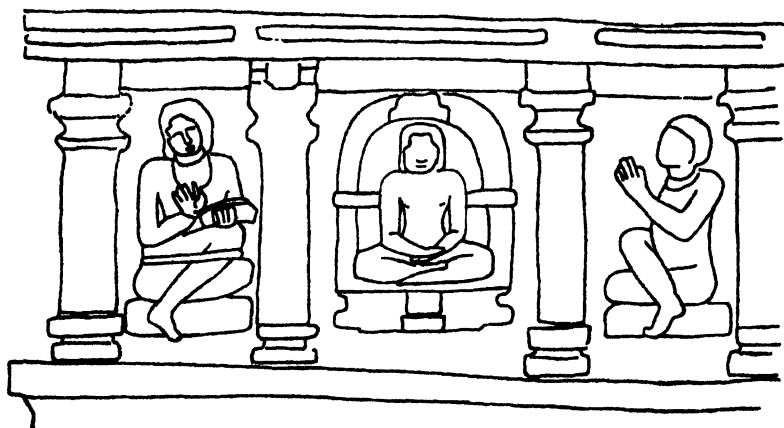
माचिकब्बे के गुरु प्रभाचंद्र सिद्धांतदेव की निसिद्धि की रेखाकृति

भाई बूचण ने सल्लेखन द्वारा प्राण त्यागे। फिर सन् 1115 में मेघचंद्र सिद्धांतदेव ने – जो लक्ष्मी के गुरु प्रभाचंद्र के गुरु थे। 1120 में देमती ने प्राण त्यागे। देमती लक्ष्मी की बहन थी। अंत में सन् 1121 में लक्ष्मी खुद इसी तरह खत्म हुईं। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने भाई, बहन और गुरु की निसिद्धियां लक्ष्मी ने ही स्थापित कीं। और अंत में लक्ष्मी की निसिद्धि उसके पति गंगराजा ने स्थापित की होगी।

गंगराजा ने एक और मंडप की स्थापना की थी। इसमें उसकी मां पोचिकब्बे (1120) और उसके गुरु शुभचंद्र सिद्धांतदेव (1123) की याद में स्तंभ स्थापित हैं। (यह ध्यान देने योग्य है कि लक्ष्मी के स्तंभ को उसके भाई और बहन के साथ रखा गया न कि उसकी सास के साथ।)

ऐसे लगता है कि मानो माचिकब्बे और लक्ष्मीमति के परिवारों के बीच एक होड़-सी लगी थी। बारहवीं शताब्दी से सल्लेखन से मरने वालों में एक तिहाई लोग इन दो परिवारों से संबंधित थे। 1113 से 1135 के बीच के 22 साल की अवधि में दोनों परिवारों के कम-से-कम आठ लोगों ने अपना जीवन सल्लेखन द्वारा समाप्त किया। यह भी काबिले गौर है कि इसमें इन दो परिवारों की महिलाओं की सक्रिय भागीदारी रही। दरअसल इस पूरे दौर में ऐसा लगता है कि सल्लेखन संपन्न वर्ग की महिलाओं में काफी लोकप्रिय हो रहा था। शेट्टर बताते हैं कि इस दौर के ज़्यादातर निसिद्धि अभिलेखों में या तो महिलाओं के मरने की खबर है या महिलाओं द्वारा निसिद्धि स्तंभों की स्थापना का ज़िक्र है।

महिलाओं में सल्लेखन

मध्यकाल में अभिजात्य परिवारों में महिलाओं के प्रति ब्राह्मणवादी विचार काफी प्रभावी थे। महिलाओं की भूमिका केवल घर और परिवार के ढांचे के अंदर हो सकती थी और वह भी पूरी तरह नियंत्रित थी। महिला स्वतंत्र रूप से सार्वजनिक जीवन में भाग नहीं ले सकती थी। इस विचार को कम-से-कम आदर्श के रूप में तो अभिजात्य वर्ग अपना चुका था। लेकिन महिलाओं की भूमिका को इस तरह सीमित करना उनकी क्षमताओं व स्वाभाविक इच्छाओं के विपरीत रहा होगा।

यहां हमें याद रखना होगा कि दक्षिण भारत में, खासकर दक्षिण पश्चिम में महिलाओं की सार्वजनिक भूमिका काफी सशक्त थी। शादी के बाद महिलाओं का नाता अपने नैहर से टूटता नहीं था, बल्कि महत्वपूर्ण बना रहता था। (माचिकब्बे और लक्ष्मीमति दोनों के यादगार स्तंभ उनके भाई व बहनों के साथ स्थापित हैं।)

कर्णाटका के ही पश्चिमी हिस्सों में कई ऐसे राज्य थे जहां स्वाभाविक रूप से महिलाएं ही शासक हुआ करती थीं।

इन सब बातों के कारण अभिजात्य महिलाएं अब तक वैसे पंगु नहीं बनी थीं जैसा कि ब्राह्मणवादी आदर्श चाहते थे। महिलाएं सक्रिय थीं और सवाल था कि महिलाओं की सक्रियता को किस दिशा में बहने दिया जाए।

जैन धर्म ने (और बौद्ध धर्म ने भी) महिलाओं को श्रमणवृत्ति अपनाने की अनुमति दे रखी थी। दक्षिण भारत की महिलाओं ने इस प्रावधान का भरपूर उपयोग किया था। इससे उन्हें समाज में स्वत: निर्णय लेने और परिवार से स्वतंत्र होकर सार्वजनिक जीवन बिताने का मौका मिला। ऐसी कई महिलाओं का ज़िक्र दक्षिणी साहित्य में मिलता है। लेकिन साध्वियों पर विशेष पाबंदियां थीं।

हमने देखा था कि सातवीं शताब्दी में जब श्रमण, संघों से काफी स्वतंत्र थे साध्वियां, संघों से बंधीं थीं। संघ के अंदर भी श्रमणों का दर्जा हमेशा ऊंचा था – साध्वी चाहे कितनी भी बुजुर्ग हो उसे एक नए श्रमण से कम वरीयता प्राप्त थी।

सबसे मुख्य बात थी जैनों की यह मान्यता कि महिलाएं मोक्ष नहीं पा सकती हैं। वे ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वर्ग जा सकती हैं और उम्मीद कर सकती हैं कि अगले जन्म में वे पुरुष बनकर आएंगी और मोक्ष प्राप्ति का फिर से प्रयास करेंगी। फिर भी ब्राह्मणवादी आदर्शों की तुलना में जैन धर्म ने महिलाओं की सक्रिय भूमिका को मान्यता दी हालांकि उस भूमिका को नियंत्रित रखने का प्रयास भी किया।

जैन संघ या समाज में पुरुषों के लिए कई सारे अवसर खुले थे। संघ का नेतृत्व, मंदिरों व मठों का संचालन, दान में मिली संपत्ति की देख-रेख, दूसरे मत के लोगों से वाद-विवाद करना, प्रामाणिक ग्रंथों की रचना करना, गृहस्थों के गुरु बनना, राजनीति में भाग लेना....।

सामान्य गृहस्थ पुरुषों की चर्चा की तो ज़रूरत नहीं है। इसके विपरीत महिलाओं के लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक या धार्मिक अवसर बहुत ही सीमित और नियंत्रित थे। ऐसे में साध्वी हो या सामान्य महिला, उनके लिए अपनी सक्रियता को दर्शाने का एक प्रमुख तरीका था सल्लेखन। इसीलिए अन्य भूमिकाओं की तुलना में सल्लेखन में महिलाओं की उपस्थिति अपेक्षाकृत अधिक थी।

अंत की शुरुआत

बारहवीं शताब्दी में अपने चरम पर पहुंचने के बाद सल्लेखन धीरे धीरे लुप्त होता गया। इसी शताब्दी में दो और संप्रदाय उत्पन्न हुए जो तेज़ी

से लोकप्रिय होते गए। कर्णाटका के दक्षिणी हिस्सों में रामानुज का 'श्रीवैष्णव मत' और उत्तरी कर्णाटका में बसव का 'वीरशैव मत'। ये दोनों राजा विष्णुगुप्त के ही काल में स्थापित हुए। उन्हें भी राजाश्रय प्राप्त हुआ। लेकिन राजाश्रय से भी ज़्यादा महत्वपूर्ण इन्हें गांव और शहरों के सामान्य लोगों का समर्थन मिला, जिन्हें जैनमत ने ब्राह्मणवाद के प्रभाव में आकर तिरस्कृत किया था। जैनमत के विपरीत ये संप्रदाय तीव्र ईश्वरवादी थे, और ईश्वर से अनन्य प्रेम और उस पर सब कुछ छोड़ने की बात करते थे। स्वयं के कठिन प्रयास से मोक्ष पाने का जैन विचार अब इनके सामने फीका पड़ने लगा। जैसे लोगों का मन इन नए संप्रदायों की तरफ मुड़ा वैसे वैसे राजा और उच्च श्रेणी के लोग भी जैन विचारों से विमुख होते गए। यहां तक कि व्यापारी समुदाय भी अब इन नए संप्रदायों के प्रति आस्था व्यक्त करने लगे।

इन सब बातों का सीधा असर सल्लेखन पर पड़ा। *श्रुतमुनि* शायद आखरी श्रमण थे जिन्होंने सन 1432 में सल्लेखन विधि से मृत्यु को पाया।

माचिकब्बे क्यों मरी?

हमने इस लेख को माचिकब्बे की मृत्यु से शुरू किया था। शिलालेख में उसके मरने का जो कारण दिया, कि वह अपने पति और बेटी के निधन से दुखी थी – एक पक्ष मात्र है। अब भी सवाल रह जाता है कि आखिर एक संपन्न और प्रभावशाली परिवार की महिला ने इस दुख से निकलने के लिए यही तरीका क्यों अपनाया?

माचिकब्बे की मृत्यु के पीछे अपने इतिहास की बहुत-सी बातें दबी पड़ी हैं। मेरे लिए माचिकब्बे क्यों मरी, इस सवाल का जवाब देना उतना आसान नहीं है जितना उनके निसिद्धि स्तंभ के लेखक के लिए था। शायद उनके लिए भी आसान नहीं रहा होगा!

सी. एन. सुब्रह्मण्यम: एकलव्य के सामाजिक अध्ययन शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध, होशंगाबाद केन्द्र में कार्यरत।

प्रसंग

छतन और मास्टर साहब

घनश्याम तिवारी
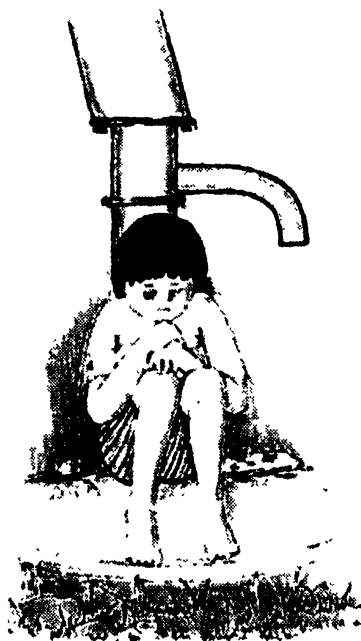
बात उन दिनों की है जब मैं और मेरा मित्र दोनों एक प्राथमिक शाला में बच्चों के बीच परीक्षण से संबंधित काम के लिए नियमित जाते थे।

उन दिनों हम जिस शाला में परीक्षण कर रहे थे वहां दो माह से नियमित आना जाना हो रहा था। किन्तु इन दो महीनों में आज पहला दिन था जब हमने पहली कक्षा के बच्चों के साथ पूरा दिन बिताया था। उस कक्षा की दो खूबियां जीवन भर नहीं भूल पाऊंगा। पहली – बच्चों का बेबाक बोलना

यानी किसी का किसी से झगड़ा हुआ तो बिना हिचकिचाए मां-बहन की गालियां देना। वैसे गालियां गुस्से या झगड़े में ही नहीं बल्कि आपसी बातचीत में भी खुलकर (गुरुजी से डरे बिना) इस्तेमाल की जाती थीं। दूसरी खूबी था – 'छतन' ऊर्फ गूंगा। ये छतन महाशय लगभग आठ वर्ष के थे। कक्षा में सबसे बड़े दिखाई देते थे। सभी बच्चे और गुरुजी इन्हें 'गूंगा' कहकर ही पुकारते थे। वैसे छतन स्वभाव से बहुत ही हंसमुख था। अपनी मातृभाषा गोंडी में थोड़ा-थोड़ा बोल लेता था। कभी-कभी खड़ी बोली (हिन्दी) भी बोलता था। वैसे वो सभी कुछ सुनता समझता था।

पहली मुलाकात में ही हमारी छतन से दोस्ती हो गई। दोस्ती की वजह क्या रही ये तो पता नहीं पर शायद हम उसे छतन कहकर पुकारते थे ये उसे अच्छा लगता था। हमने छतन के व्यवहार को समझने की कोशिश की। बंदा कतार में सबसे पीछे बैठता, पूरे समय आसपास बैठे बच्चों को डांटता रहता कि मास्साब जो कर रहे हैं उसे सुनाकर या लिखकर बताओ आदि आदि – पर खुद लिखने की बात हो तो कुछ भी नहीं करता था। जब किसी बच्चे को पानी पीना होता उसे हैंडपम्प पर ले जाता और पानी पिलाकर ले आता।

छतन के पास बस्ता नहीं था, स्लेट
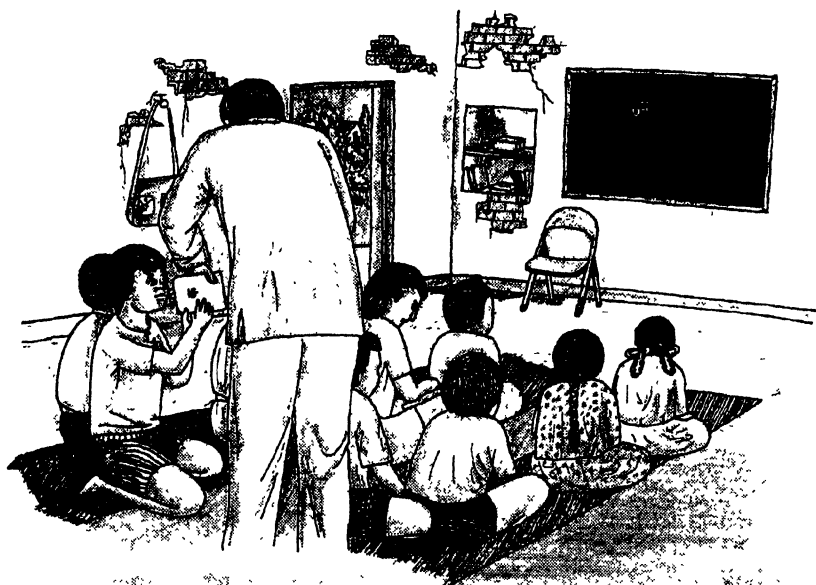
थी लेकिन बड़ी अजीब। कुछ-कुछ फावड़े की तरह का टीन का टुकड़ा था जिसे जब मन करता तो स्लेट की तरह इस्तेमाल कर लेता। तीन दिन में हमारी उससे इतनी दोस्ती हो गई थी कि वो टूटे-फूटे हिन्दी के वाक्यों में जवाब देने लगा था। कभी खुद के तो कभी घर के हालचाल सुना देता। उसकी बात से यह स्पष्ट हो गया था कि गांव के लोगों ने उसे गूंगा मान लिया है। उसे इस बात से सख्त आपत्ति थी कि गुरुजी भी ऐसा ही मानते हैं पर वो इस बात को व्यक्त नहीं करता था। घर वालों की उसे पढ़ाने की कुव्वत नहीं थी। जो भी वह कर रहा था अपने बलबूते पर।

एक दिन मैंने तख्ते पर 'क' लिखा और सभी बच्चों से लिखकर दिखाने को कहा; छतन को भी प्रेरित किया कि तख्ते पर लिखा अक्षर लिखकर दिखाओ। छतन मुस्कुराता रहा पर उसने लिखा नहीं। लेकिन आसपास बैठे बच्चों से लिखकर दिखाने को कहता रहा। थोड़ी देर बाद मैंने *'क'* को मिटाकर *'न'* लिख दिया और सभी बच्चों से कहा अब *'न'* लिखकर दिखाओ। छतन से भी आग्रह किया। सभी बच्चों के साथ छतन ने भी लिख कर दिखाया। लेकिन 'क' लिखा। इसके बाद हमने क्रमशः चार अक्षर और लिखे। हर बार छतन वो अक्षर लिखकर दिखाता जिसे हम पहले लिखकर मिटा

चुके होते। वह ऐसा क्यों करता था, यह बात हमारे लिए पहेली ही रही। इसके बाद सभी बच्चों ने इच्छा ज़ाहिर की कि वे चित्र बनाना चाहते हैं; और सभी बच्चे चित्र बनाने में जुट गए। छतन भी उनमें से एक था।

लगभग आधा घंटे बाद छतन ने अपनी फावड़ानुमा स्लेट पर कुछ चित्र बना लिए थे और इंतज़ार कर रहा था कि और बच्चों की तरह उससे भी पूछा जाए, "बताओ क्या-क्या बनाया है?" थोड़ी ही देर में मैंने उससे पूछ लिया, "छतन तुमने क्या बनाया? बताओ।"

- "चित्र।"

"अरे वाह! ये क्या बनाया?" ऊपर बने चित्र की ओर इंगित करते हुए मैंने पूछा।

- "लुगई," छतन ने कहा।
- "क्या कर रही है?"
- "पानी ला रई।"

"अरे यार छतन। ये चल सकती है क्या? इसके पैर तो..."

- "पेटीकोट पहनी है, मास्साब।"
- "अरे वाह! और ये क्या बनाया?"
- "हवईजहाज।"
- "कहां देखा था?"
- "ऊपर उड़ती है, मास्साब।"

छतन की सोच और उसके इस सृजनात्मक काम ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैंने उसके काम को बड़े मास्टर साहब (उस शाला के प्रधानाध्यापक) को दिखाया। खासकर इसलिए कि पूरी शाला में बच्चों के साथ एक मात्र यही मास्टर साहब थे जो छतन को गूंगा कहकर पुकारते थे। बाकी शिक्षक तो 'ऐ, ओ' कहकर काम चला लेते थे।

मैंने छतन को बड़े मास्टर साहब के पास पहुंचा दिया। खुद खिड़की के पास खड़ा हो गया। मेरा अनुमान था कि इस रचनात्मकता को देखकर छतन के प्रति मास्टर साहब के जो भी पूर्वाग्रह हैं वो खत्म हो जाएंगे।

मास्टर साहब ने मेरे आग्रह पर छतन के चित्र देखे, "ला रे बता, क्या बनाया?"

छतन ने स्लेट मास्साब की टेबिल पर रख दी, "जरा पास तो आ। ये क्या बनाया?"

ऊपर बने चित्र पर अंगुली रखते हुए छतन ने खुश होकर बताया, "लुगई।"

"ज़रा पास तो आ," छतन को पास खींचते हुए।

और इस तरह मास्साब ने छतन की उभरी हुई पसली के नीचे सिकुड़े से पेट के आसपास, चिमटी भर खाल ढूंढ ली। जैसा की चाबी भरने के लिए करते हैं, मास्साब ने अपनी पकड़ मज़बूत करते हुए बातचीत का क्रम आगे बढ़ाया।

छतन के चेहरे पर उभरी पीड़ा मुझे बार-बार अपनी गलती का अहसास करा रही थी। चाहते हुए भी मैं मास्साब की इस प्रतिक्रिया में हस्तक्षेप न कर सका।

क्या बनाया, 'लुगई,' चाबी थोड़ी घुमाते हुए, "इसके पांव तो बनाए नहीं?" .

"पेटीकोट पहनी है।"

"अच्छा बेटा और ये क्या बनाया?" दूसरे चित्र की ओर इशारा करते हुए, "हवईजहाज।"

"तेरा बाप भी कभी हवाई जहाज़ में बैठा है?" (चाबी और घुमाई)

छतन लगभग चीखने-सी स्थिति में पंजे के बल खड़ा हो गया और अगले ही क्षण अपनी स्लेट छुड़ाकर दरवाज़े पर खड़ा हो गया। इसके साथ ही ऊंची-ऊंची आवाज़ में गाली बकने लगा। मास्टर साहब ने कुर्सी छोड़ दी और टेबिल के नीचे लगभग छुपने की मुद्रा में मुझे आवाज़ दी, "ज़रा इसको सम्हालना।"
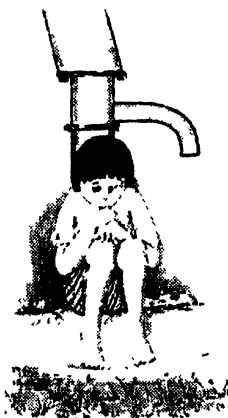
जैसे-तैसे मैंने छतन से स्लेट वापस ली। छतन इतना नाराज़ था कि पत्थर लिए काफी देर तक इधर-उधर गाली बकता, बदला लेने के उद्देश्य से घूमता रहा। मेरी काफी कोशिश के बाद वो घर चला गया। इस घटना के बाद से वो स्कूल के आसपास तो आता था पर बड़े मास्टर साहब की उपस्थिति-से लौट जाता। बाद में हमने इस संदर्भ में मास्टर साहब से बात की, मास्टर साहब का रुख रचनात्मक कम आलोचनात्मक अधिक रहा। अंततः मैं शिक्षक को उनकी गलती का अहसास नहीं करवा पाया। इस घटना को कुछ साल गुज़र चुके हैं। छतन अब काफी बड़ा हो गया है। कभी-कभार अब भी मिलता है। उसे घटना तो याद होगी पर ऐसा लगता है कि ज़िक्र करना शायद उसे पसंद नहीं है।

घनश्याम तिवारी – एकलव्य के प्राथमिक शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध; शाहपुर उपकेंद्र में कार्यरत।

ज़रा सिर तो खुजलाइए

गुत्थी: किसी कागज़ को फाड़िए, ज़रा तेज़ी से – आवाज़ आती है न फटने की! क्यों? और अगर कागज़ को गीला करके फाड़ो तो ये आवाज़ गुम हो जाती है। ऐसा क्यों?

इस उलझन ने तो हमें भी सिर खुजलाने को मजबूर कर दिया है। अगर आपको कुछ मालूम हो इस बारे में तो लिख भेजिए इस पते पर -

ज़रा सिर तो खुजलाइए,
द्वारा संदर्भ,
एकलव्य,
कोठी बाज़ार,
होशंगाबाद – 461 001.

ललचाती गंध और केकड़ा मकड़ी. . .

कीटभक्षी पौधे – हर कहीं ज़िक्र मिल जाता है इनका। जीवविज्ञान की किताबों में तो कुछ न कुछ लिखा ही रहता है, अखबारों में भी इनके बारे में खूब छपता रहता है। इसलिए यहां पर एक कीटभक्षी पौधे का ज़िक्र केवल इसलिए करेंगे क्योंकि केकड़ा मकड़ी की बात करने के लिए कीटभक्षी पौधे सरासेनिया का उल्लेख लाज़िमी है। आप कहेंगे ऐसा भी क्या!

एक की बात दूसरे के बिना क्यों नहीं हो सकती, इसके बारे में बाद में बताएंगे पहले ज़रा कीटभक्षी सरासेनिया की बनावट पर नज़र डालें। रंगीन, आकर्षक और मदहोश कर देनेवाली गंध से युक्त कलशनुमा रचना! ऊपर की तरफ मकरंद स्रावित करता हुआ ढक्कन! कलश के पास अंदर की ओर कड़े चिकने रोएं ताकि एक बार शिकार हाथ में आ जाए तो बस अंदर की तरफ धंसते जाने के अलावा कोई और चारा नहीं। और अंततः घड़े की पेंदी में जमा वह पाचक रस जो कीड़े का काम तमाम कर पचा जाता है उसे।

पर मकड़ी कहां गई! जनाब वहीं है, ज़रा गौर से देखिए तो सही, वहीं कलश के मुंह के पास। यही तो कमाल है, केकड़ा मकड़ी कीटभक्षी सरासेनिया के कलश के मुंह के अंदर – कड़क रोओं से थोड़ा ऊपर अपना जाल बना लेती है। ताकि कीट आकर्षित होकर कीटभक्षी पौधे की तरफ आएं और उसके जाल में फंस जाएं। इससे भी अधिक मज़ेदार बात यह है कि मकड़ी न केवल उस कलश में बेखौफ घूमती रहती है बल्कि कभी-कभी खतरा लगने पर पेंदी में पड़े पाचक रस में भी घुस जाती है, जिसका इस मकड़ी पर कोई असर नहीं होता।

किशोर
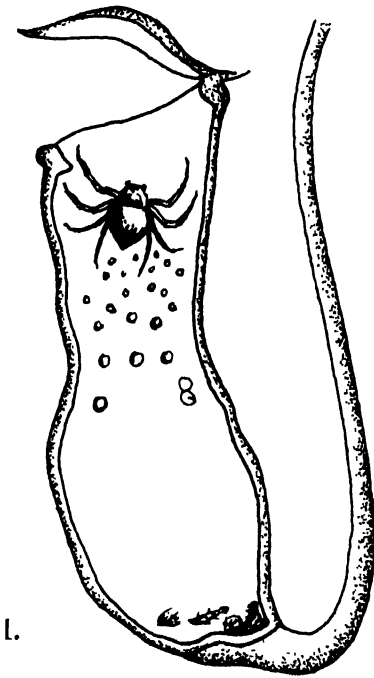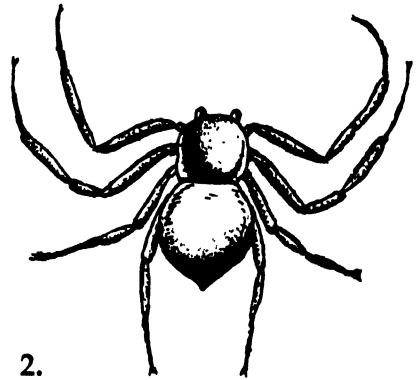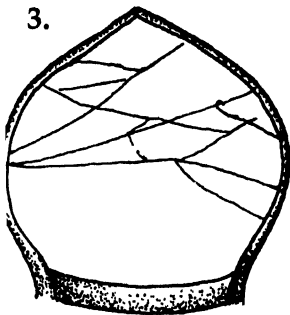
1. कलशनुमा रचना में घूमती मकड़ी 2. केकड़ा मकड़ी 3. उसका बुना हुआ जाला : मकड़ी यह जाला मुंह के पास बिनती है ताकि कीड़ों को नीचे पाचक रस में जाने से रोक सके।

12743

एकलव्य की ओर से राजेश खिंदरी द्वारा आदर्श प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, 4 इंदिरा प्रेस कॉम्पलेक्स, भोपाल से मुद्रित एवं एकलव्य, ई-1/25, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016 से प्रकाशित। संपादक-राजेश खिंदरी